मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

मंगलाचरणम्

श्रीमत्परम-गम्भीर-स्याद्वादामोघ-लाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्य-नाथस्य शासनं जिन-शासनम् ॥ १ ॥

सः श्रीमान् धरसेन-नाम-सुगुरुः श्रीजैन-सिद्धान्त-सद्-
वार्द्धिर्धुर्धर-पुष्पदन्त-सुमुनिः श्रीभूतपूर्वो बलिः ।
एते सन्मुनयो जगत्त्रय-हिताः स्वर्गामरैरर्चिताः
कुर्युर्मे जिनधर्म-कर्मणि मतिं स्वर्गापवर्गप्रदे ॥ २ ॥

श्रीवीरसेन इत्याप्त-भट्टारक-पृथु-प्रथः ।
स नः पुनातु पूतात्मा वादि-वृन्दारको मुनिः ॥ ३

धवलां भारतीं तस्य कीर्तिं च शुचि-निर्मलाम् ।
धवलीकृत-निःशेष-भुवनां तां नमाम्यहम् ॥ ४ ॥

भूयादावीरसेनस्य वीरसेनस्य शासनम् ।
शासनं वीरसेनस्य वीरसेन-कुशेशयम् ॥ ५ ॥

सिद्धानां कीर्तनादन्ते यः सिद्धान्त-प्रसिद्ध-वाक् ।
सोऽनाद्यनन्त-सन्तानः सिद्धान्तो नोऽवताच्चिरम् ॥ ६ ॥

---

१ श्रवणबेलगोल शिलालेख. नं. ३९ आदि । २ ब्रम्ह. नेमिदत्तकृत आराधनाकथाकोष. पृ. ३५९ । ३–४ संस्कृत महापुराण उत्थानिका । ५–६ जयधवलान्तर्गत ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सिरि-भगवंत-पुप्फवंत-भूदबलि-पणीदो

छक्खंडागमो

जीवट्ठाणं

तस्स

सिरि-वीरसेणाइरिय-विरइया टीका

धवला

सिद्धमणंतमणिंदियमणुवममप्पुत्थ-सोक्खमणवज्जं ।
केवल-पहोह-णिज्जिय-दुण्णय-तिमिरं जिणं णमह ॥ १ ॥

जो सिद्ध हैं, अनन्तस्वरूप हैं, अनिन्द्रिय हैं, अनुपम हैं, आत्मस्थ सुखको प्राप्त हैं, अनवद्य अर्थात् निर्दोष हैं, और जिन्होंने केवलज्ञानरूप सूर्यके प्रभापुंजसे कुनयरूप अन्धकारको जीत लिया है, ऐसे जिन भगवान्‌को नमस्कार करो । अथवा, जो अनन्त-स्वरूप हैं, अनिन्द्रिय हैं, अनुपम हैं, आत्मस्थ सुखको प्राप्त हैं, अनवद्य अर्थात् निर्दोष हैं, जिन्होंने केवलज्ञानरूप सूर्यके प्रभा-पुंजसे कुनयरूप अन्धकारको जीत लिया है, और जो समस्तकर्म-शत्रुओंके जीतनेसे 'जिन' संज्ञाको प्राप्त हैं, ऐसे सिद्ध परमात्माको नमस्कार करो ।

१ अप्पुत्थ (मु. पा.)

विशेषार्थ– ग्रंथ प्रारंभ 'सिद्ध' इस पदसे करनेका प्रयोजन यह सूचित होता है कि प्रारंभमें स–कार का प्रयोग सुखदायक माना जाता है। 'सहो सुखवाहदो' (अलंकार चितामणि १।४९) सकार सुखदायक होता है, तथा हकार दुखदायक होता है।

'सिद्ध' शब्दका अर्थ कृतकृत्य होता है, अर्थात्, जिन्होंने अपने करने योग्य सब कार्योको कर लिया है, जिन्होंने अनादिकालसे बंधे हुए ज्ञानावरणादि कर्मोंको प्रचण्ड ध्यानरूप अग्निके द्वारा भस्म कर दिया है ऐसे कर्म-प्रपंच-मुक्त जीवोंको सिद्ध कहते हैं। अरहंत परमेष्ठी भी चार घातिया कर्मोंका नाश कर चुके हैं, इसलिये वे भी घातिकर्म-क्षय सिद्ध हैं। इस विशेषणसे जो अनादि कालसे ही ईश्वरको कर्मोंसे अस्पृष्ट मानते हैं, ऐसे सदाशिव और सांख्य मतका निराकरण हो जाता है।

अथवा 'षिधु' धातु गमनार्थक भी है, जिससे सिद्ध शब्दका यह अर्थ होता है, कि जो शिव-लोकमें पहुंच चुके हैं, और वहांसे लौट कर कभी नही आते। इस कथनसे मुक्त जीवोंके पुनरागमनकी मान्यता का निराकारण हो जाता है।

अथवा 'षिधु' धातु 'संराधन' के अर्थमें भी आती है, जिससे यह अर्थ निकलता है, कि जिन्होंने आत्मीय गुणोंको प्राप्त कर लिया है, अर्थात्, जिनकी आत्मामें अपने स्वाभाविक अनन्त गुणोंका विकाश हो गया है। इस व्याख्यासे जो मानते हैं कि, 'जिसप्रकार दीपक बुझ जाने पर, न वह पृथ्वीकी ओर नीचे जाता है, न आकाशकी ओर ऊपर जाता है, न किसी दिशाकी ओर जाता है और न किसी विदिशाकी ओर जाता है किंतु तेलके क्षय हो जानेसे केवल शान्ति अर्थात् नाशको ही प्राप्त होता है, उसीप्रकार, मुक्तिको प्राप्त होता हुआ जीव भी न नीचे भूतलकी ओर, न ऊपर नभस्तलकी ओर, न किसी दिशाकी ओर, और न किसी विदिशाकी ओर ही जाता है। किंतु स्नेह अर्थात् रागपारिणतिके नष्ट हो जानेपर, केवल शान्ति अर्थात् नाशको ही प्राप्त होता है'* उस बौद्धमतका निरसन हो जाता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अनन्त[२]— जिसका अन्त अर्थात् विनाश नही है उसे अनन्त कहते हैं। अथवा 'अन्त' शब्द सीमा-वाचक भी है, इसलिए जिसकी सीमा न हो उसे भी अनन्त कहते हैं। अथवा, अनन्त

---

१ आदौ सकार–प्रयोगः सुखदः। तथा च 'सहो सुखदाहदो'। अलं. चि. १, ४९. 'माङ्गलिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं सिद्ध–शब्दं आदितः प्रयुङ्क्ते' पात. महा.भा. पृ. ५७. सितं बद्धमष्ट–प्रकारं कर्मेन्धनं ध्मातं दग्धं जाज्वल्यमान-शुक्लध्यानानलेन यैस्ते सिद्धाः। अथवा. 'षिधु गतौ' इति वचनात् सेधन्ति स्म अपुनरावृत्या निर्वृतिपुरीमगच्छन्। अथवा, 'षिधु संराद्धौ' इति वचनात् सेधन्ति सिद्धचन्ति स्म निष्ठितार्था भवन्ति स्म। अथवा, 'षिधूञ् शास्त्रे माङ्गल्ये च' इति वचनात् सेधन्ति स्म शासितारोऽभूवन् माङ्गल्यरूपतां चानुभवन्ति स्म इति सिद्धाः। अथवा, सिद्धाः नित्याः अपर्यवसान-स्थितिकत्वात्। प्रख्याता वा भव्यैरुपलब्धगुणसंदोहत्वात्। आह च, –

ध्मातं सितं येन पुराणकर्म यो वा गतो निर्वृति-सौध-मूर्ध्नि।
ख्यातोऽनुशास्ता परिनिष्ठितार्थो यःसोऽस्तु सिद्धः कृतमङ्गलो मे॥ भग. सू. १, १, १, (टीका)।

* धवला, अ. पृ. ४७४.

२ नास्यान्तोऽस्तीत्यनन्तः निरन्वयविनाशेनाविनश्यमानः। नास्यान्तः सीमास्त्यनन्तः केवलात्मनोऽनन्तत्वात्। अनन्तार्थ-विषयत्वाद्वाऽनन्तः अनन्तार्थ-विषय-ज्ञान-स्वरूपत्वात्। अनन्त-कर्मांश-जयनादनन्तः। अनन्तानि वा ज्ञानादीनि यस्येत्यनन्तः। अभि. रा. कोष.

पदार्थोंको जाननेवालेको भी अनन्त कहते हैं। अथवा, अनन्त कर्मोंके अंशोको जीतनेवालेको भी अनन्त कहते हैं। अथवा, अनन्तज्ञानादि गुणोंसे युक्त होनेके कारण भी अनन्त कहते हैं।

अनिन्द्रिय[1]--- जिसके इन्द्रियां न हो, उसे अनिन्द्रिय कहते हैं। इन्द्रियां अर्थात् भावेन्द्रियां छद्मस्थ दशामें पाई जाती हैं, परंतु सिद्ध और अरहंत परमात्मा छद्मस्थ दशाको उल्लंघन करके केवलज्ञानसे विभूषित हैं, इसलिये वे अनिन्द्रिय हैं। भावेन्द्रियोंकी तरह इन दोनो परमात्माओंके भाव-मन भी नही पाया जाता है, क्योंकी तेरहवे गुणस्थानमें क्षायोपशमिक ज्ञानोंका अभाव है। अथवा, 'अणिंदिय' पद अतीन्द्रिय के अर्थमें भी आता है, जिससे यह अर्थ निकलता है कि वे हमारे इन्द्रिय-जन्य ज्ञानसे नही जाने जा सकते हैं, अर्थात् वे दोनो परमात्मा इन्द्रियोंके अगोचर हैं। 'अणिंदिय' पदका अर्थ अनिन्दित भी होता है, जिसका यह तात्पर्य है कि सिद्ध और अरहंत परमेष्ठी निर्दोष होनेके कारण सबके द्वारा अनिन्दित हैं,। निन्दा उसकी की जाती है जिसमें किसी प्रकारके दोष पाये जावें, जिसका आचरण दूसरोंके लिये आहितकर हो। परंतु उक्त दोनो परमेष्ठी कामादि दोषोंसे रहित होनेके कारण उनके स्वरूपको जाननेवाला कोई भी उनकी निन्दा नहीं कर सकता है, इसलिये वे अनिन्दित हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अनुपम[2]--- प्रत्येक वस्तु अनन्त-धर्मात्मक है। उनके स्वरूप-निर्णयके लिये हम जो कुछ भी दृष्टान्त देकर, शब्दोंद्वारा, उसे मापनेका प्रयास करते हैं, उस मापनेको उपमा कहते हैं। 'उप' अर्थात् उपचारसे जो 'मा' माप करे वह उपमा है। उपचारसे मापनेका भाव यह है कि एक वस्तुके गुण-धर्म किसी दूसरी वस्तुमें तो पाये नहीं जाते हैं, इसलिये आकार, दीप्ति, स्वभाव आदि धर्मोंमें थोडी बहुत समानता होने पर भी किसी एक वस्तुके द्वारा दूसरी वस्तुका ठीक कथन तो नहीं हो सकता है, फिर भी दृष्टान्तद्वारा दूसरी वस्तुका कुछ न कुछ अनुभव या परिज्ञान अवश्य हो जाता है। इसलिये इस प्रक्रियाको उपमामें लिया जाता है। परंतु यह प्रक्रिया उन्हीं पदार्थोंमें घटित हो सकती है जो इन्द्रियगोचर हैं। सिद्धपरमेष्ठी तो अतीन्द्रिय है। अरहंत परमेष्ठीका शरीर इन्द्रियगोचर होते हुए भी उनकी पुनीत आत्माका हम संसारी जन इन्द्रियज्ञानके द्वारा साक्षात्कार नही कर सकते हैं। इसलिये उपमाद्वारा उनका परिज्ञान होना असंभव है। उन्हें यदि कोई भी समुचित उपमा दी जा सकती है, तो उन्हीकी दी जा सकती है जो कि सर्वथा छद्मस्थ ज्ञानियोंके अप्रत्यक्ष हैं। अतः सिद्ध और अरहंत परमात्माको अनुपम अर्थात् उपमा रहित कहना सर्वथा युक्ति-युक्त है। 'उप' का अर्थ पास भी होता है, अर्थात् ऐसा कोई पदार्थ, जिसके लिये उसकी उपमा दी जाती हो, पासका अर्थात् उसका ठीक तरहसे बोध करानेवाला, होना चाहिये। परंतु संसारमें ऐसा एक भी पदार्थ नही है जिसके द्वारा हम सिद्ध और अरहंत परमेष्ठीके स्वरूपकी तुलना कर सकें। अतएव वे अनुपम हैं।

१ 'न य विज्जइ तग्गहणे लिंगं पि अणिंदियत्तणओ'। पा. स. म. कोष अणिंदिअ।

२ लोके तत्सदृशो ह्यर्थः कृत्स्नेऽप्यन्यो न विद्यते। उपमीयेत तद्येन तस्मान्निरुपमं स्मृतम्।
जयध. अ. पृ. १२४९.

आत्मस्थसुख – सुख जीवका सहजसिद्ध स्वाभाविक गुण होनेसे आत्मामें सदैव विद्यमान है। कर्मोंके अभावमें वह स्वाभाविक गुण प्रगट होता है। इसलिये भगवान परमात्मा आत्मस्थ सुखस्वरूप है। इंद्रियजन्य सुख–दुःख आत्माके सुखगुणकी ही विभाव पर्याय है। कर्मोपाधि नष्ट होनेपर वह आत्मस्थ सुखगुण आत्मासेही उत्पन्न (प्रगट) होता है।

जिस आत्मस्थगुणके द्वारा आत्मा, शान्ति संतोष या आनन्दका चिरकालतक अनुभव करे उसे सुख कहते हैं। संसारी जीव कोमल स्पर्शमें, विविध-रस-परिपूर्ण उत्तम सुस्वादु भोजनके स्वादमें, वायुमण्डलको सुरभित करनेवाले नानाप्रकारके पुष्प, इत्र, तैल आदि सुगन्धित पदार्थोंके सूंघनेमें, रमणीय रूपोंके अवलोकनमें, श्रवण-सुख-कर संगीतोंके सुननेमें और चित्तमें प्रमोद उत्पन्न करनेवाले अनेक प्रकारके विषयोंके चिन्तवनमें आनन्दका अनुभवसा करता है, और उससे अपनेको सुखी भी मानता है। पर यथार्थमें देखा जाय तो इसे 'सुख' नही कह सकते हैं। सुख जिसे कहना चाहिये वह तो आकुलताके अभावमें ही उपलब्ध हो सकता है। परंतु इन सब विषयोंके ग्रहण करनेमें आकुलता देखी जाती है, क्योंकि प्रथम तो इन्द्रिय-सुखकी कारणभूत सामग्रीका उपलब्ध होना ही अशक्य है, इसलिये आकुलता होती है। दैववशात् उक्त सामग्री यदि मिल भी जाय तो उसे चिरस्थायी बनानेके लिये और उसे अपने अनुकूल परिणमानेके लिये चिन्ता करनी पड़ती है। इतना सब कुछ करने पर भी वह [illegible] हुआ सुख चिरस्थायी ही रहेगा, यह कुछ कहा नही जा सकता है, क्योंकि संसारमें न किसीका सुख चिरस्थायी रहा है और न कोई प्राणी ही। फिर इस सुखमें रोग, शोक, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग आदि निमित्तोंसे सदा ही सैंकडों बाधाएँ उपस्थित होती रहती हैं, जिससे वह सुखद सामग्री ही दुखकर हो जाती है। यदि इतनेसे ही बस होता, तो भी ठीक था। पर वह सुख पापका बीज है, क्योंकि संसारमें सुखकी सामग्री परिमित है और उसके ग्राहक अर्थात् उसके अभिलाषी असंख्य हैं। अतः जो भी व्यक्ति सुखकी आवश्यकतासे अधिक सामग्री एकत्रित करता है, यथार्थतः देखा जाय तो, वह दूसरोंके न्याय-प्राप्त अंशको छीनता है। इसलिये यह सुख पापका बीज है। फिर यह सुख आरम्भादि निमित्तोंसे अनेकों जीवोंकी हिंसा करनेके बाद ही तो उपलब्ध होता है, अतः कर्मबन्धका कारण भी है। अतः यह इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाला सुख, सुख न होकर यथार्थमें दुख ही है। किंतु जो आनन्द, जो शान्ति स्वाधीन है, अर्थात्, बाह्य पदार्थोंकी अपेक्षा न करके केवल आत्मासे उत्पन्न होती है, बाधा-रहित है, अविच्छिन्न एक धारासे प्रवाहित हो कर सदाकाल स्थायी है, नवीन कर्मबन्ध करानेवाली भी नही है, दूसरोंके अधिकार नही छीननेसे पापका बीज भी नहीं है, उसे ही सच्चा सुख कहा जा सकता है। सो ऐसा आत्मस्थ, अनन्त सुख सिद्ध और अरहंत परमेष्ठीके ही संभव है। अतः उक्त विशेषण देना सार्थक एवं समुचित ही है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

---

१ अइसयमाद-समुत्थं विसयातीदं अणोवममणंतं। अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं॥ प्रवच. १,१३. स-परं बाधा-सहियं विच्छिण्णं बंध-कारणं विसमं। जं इंदिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा॥ प्रवच १, ७६. कर्म-पर-वशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये। पाप-बीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकाङ्क्षणा स्मृता॥ रत्नक. १, १२.

अनवद्य— अवद्य, पाप या दोषको कहते हैं। गुणस्थानक्रमसे आत्माके क्रमिक-विकाशको देखते हुये यह भलीभांति समझमें आ जाता है कि ज्यों ज्यों आत्मा विशुद्धि-मार्गपर अग्रेसर होता जाता है, त्यों त्यों उसमेंसे मोह, राग, द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया, मत्सर, लोभ, तृष्णा आदि विकार-परिणति अपने आप मन्द या क्षीण होती हुई चली जाती हैं। यहां तक कि एक वह समय आ जाता हं जब वह उन समस्त विकारोंसे रहित हो जाता है। इसी अवस्थाको मंगलकारने अनवद्य या निर्दोष शद्बसे प्रगट किया है।

केवलप्रभौघनिर्जितदुर्नयतिमिर[1]— अन्य दृष्टिभेदोंकी अपेक्षा-रहित केवल एक दृष्टि-भेदको ही दुर्नय कहते हैं। इससे पदार्थका बोध तो होता है, परन्तु वह बोध केवल पक्षग्राही रहता हैं। इससे प्राणीमात्र किसी पदार्थकी समीचीनताका अनुभव नही कर सकते हैं। इसलिये इसके द्वारा पदार्थको जानते हुए भी उसके विषयमे जाननेवाले अन्धे ही बने रहते हैं, क्योंकि इस दृष्टि-भेदसे पदार्थ जितने अंशमें प्रतिभासित होता है, पदार्थ केवल उतना ही नही है, वह तो उसकी केवल एक अवस्था ही है। पदार्थ तो उस जाने हुए अंशसे और भी कुछ हैं। और वह दृष्टि-भेद पदार्थके उन अंशोंकी अपेक्षा ही नही करता है, बल्कि अपने द्वारा ग्रहण किये हुए अंशको ही उस पदार्थकी समग्रता समझ लेता है। अतएव वह दृष्टि-भेद पदार्थका प्रकाशक होते हुए भी अन्धकारके समान है। मंगलकारने इसी दृष्टिको सामने रखकर अन्य दृष्टिभेदोंकी अपेक्षा-रहित एक दृष्टि-भेदको 'दुर्नय-तिमिर' संज्ञा दी है। इसे सिद्ध और अरिहंत परमेष्ठीने अपने केवलज्ञानरूप सूर्यके प्रभा-पुंजसे जीत लिया है। क्योंकि केवलज्ञानरूप सूर्यमें ऐसा एक भी सम्यक् दृष्टि-भेद नही है, जिसका समन्वय नही होता है, अर्थात्, उसमें सभी सम्यक् दृष्टिभेदोंका समन्वय हो जाता है। अतएव वह पदार्थका पूर्ण प्रकाशक है। सूर्यके उदित होने पर जिसप्रकार अन्धकार विलीन हो जाता है, उसीप्रकार केवलज्ञानरूपी सूर्यके प्रभा-पुंजके सामने वे सर्वथा एकान्त दृष्टियां नही ठहर सकती हैं। अतएव केवलज्ञान-विभूषित सिद्ध और अरहंत परमेष्ठीको 'केवलप्रभौघनिर्जितदुर्नयतिमिर' यह विशेषण देना युक्तियुक्त ही है।

जिन[2]— मोह या मिथ्यात्व आत्माका सबसे अधिक अहित करनेवाला है। इसके वशमें होकर ही यह जीव अनादि-कालसे आत्म-स्वरूपको भूला हुआ संसारमें भटक रहा है। जब इस जीवको उपदेशादिकका निमित्त मिलता है और उससे 'स्व' क्या है, 'पर' क्या है, 'हित' क्या है, 'अहित' क्या है, इसका बोध करके आत्म-कल्याणकी ओर इसकी प्रवृत्ति

१. जह एए तह् अन्ने पत्तेयं दुण्णया णया सव्वे। स. त. १, १५. निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्। आ. मी. १०८. तदनेकान्त-प्रतिपत्तिः प्रमाणम्। एक-धर्म-प्रतिपत्तिर्नयः। तत्प्रत्यनीक-प्रतिक्षेपो दुर्णयः। केवल-विपक्ष-विरोध-दर्शनेन स्व-पक्षाभिनिवेशात्। अष्टश. का. १०६. अर्थस्यानेकरूपस्य धीःप्रमाणं तदंशधीः, नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्णयस्तन्निराकृतिः॥ अष्टस. पृ. ९०.

२. सकलात्म-प्रदेश-निविड-निबद्ध-घाति-कर्म-मेघ-पटल-विघटन-प्रकटीभूतानन्त-ज्ञानादि-नव-केवल-लब्धित्वात्. जिनः। गो. जी., जी.प्र.टी., गा. १. अनेक-विषम-भव-गहन-दुःख-प्रापण-हेतून् कर्मारातीन् जयन्ति निर्जरयन्तीति जिनाः। गो. जी, मं. प्र. टी., गा. १.

बारह-अंगग्गिज्झा वियलिय-मल-मूढ-दंसणुत्तिलया ।
विविह-वर-चरण-भूसा पसियउ सुय-देवया सुइरं ॥ २ ॥
सयल-गण-पउम-रविणो विविहिद्धि-विराइया वि णिस्संगा ।
णीराया वि कुराया गणहर-देवा पसीयंतु ॥ ३ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

होने लगती है; परिणामोंमें इतनी अधिक पवित्रता आ जाती है, कि वह केवल अपने स्वार्थकी पुष्टिके लिये दूसरोंके न्याय-प्राप्त अधिकारोंको छीननेसे ग्लानि करने लगता है; उसके पहिले बांधे हुए कर्म हलके होने लगते हैं, तथा नवीन कर्मोंकी स्थिति भी कम पड़ने लगती है; सांसारिक कार्योंको करते हुए भी उनमें उसे स्वभावतः अरुचिका अनुभव होने लगता है; तब कही समझना चाहिये कि यह जीव सम्यग्दर्शनके सम्मुख हो रहा है। फिर भी ऊपर जितने भी कारण बतलाये हैं, वे सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके समर्थ कारण नहीं हैं। इनके होते हुए यदि मिथ्यात्व या मोहका उपशम करनेमें समर्थ ऐसे अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण-रूप परिणाम होते हैं तो समझना चाहिये कि यह जीव सम्यग्दर्शनको पा सकता है, इनके विना नहीं; क्योंकि इन परिणामोंमें ही मिथ्यात्वके नष्ट करनेका सामर्थ्य है। इसतरह जब यह जीव अधःकरणरूप परिणामोंको उल्लंघन करके अपूर्वकरणरूप परिणामोंको प्राप्त होता है, तब यह जिनत्वकी पहिली सीढी पर है, ऐसा समझना चाहिये। यही से जो कर्मरूपी शत्रुओंको जीते उसे जिन कहते है, इस व्याख्याके अनुसार, जिनत्वका प्रारम्भ होता है। इसके आगे जैसे जैसे कर्म-शत्रुओंका अभाव होता जाता है वैसे वैसे जिनत्व धर्मका प्रादुर्भाव होता जाता है, और बारहवे गुणस्थानके अन्तमें जब यह जीव समस्त घातिया कर्मोंको नष्ट कर चुकता है तब पूर्णरूपसे 'जिन' संज्ञाको प्राप्त होता है, सिद्ध परमेष्ठी तो समस्त कर्मोंसे रहित है, इसलिये अरहंत और सिद्ध परमेष्ठी कर्मशत्रुओंके जीतनेसे साक्षात् जिन हैं, ऐसा समझना चाहिये।

इसप्रकार शास्त्रारम्भमें अनन्त आदि विशेषणोंसे युक्त अरहंत और सिद्ध दोनो परमेष्ठियोंको नमस्कार किया है ॥ १ ॥

जो श्रुतज्ञानके प्रसिद्ध बारह अंगोंसे ग्रहण करने योग्य है, अर्थात् बारह अंगोंका समूह ही जिसका शरीर है, जो सर्व प्रकारके मल (अतीचार) और तीन मूढताओंसे रहित सम्यग्दर्शन-रूप उन्नत तिलकसे विराजमान है और नाना-प्रकारके निर्मल चारित्र ही जिसके आभूषण हैं, ऐसी भगवती श्रुतदेवता चिरकाल तक प्रसन्न रहो ॥ २ ॥

जो सर्व प्रकारके गण, मुनिगण अर्थात् ऋषि, यति, मुनि और अनगार, इन चार प्रकारके संघरूपी कमलोंके लिये; अथवा, मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका इन चार प्रकारके संघरूपी कमलोंके लिये सूर्यके समान हैं, जो बल, बुद्धि इत्यादि नाना प्रकारकी ऋद्धियोंसे विराजमान होने पर भी अन्तरंग और बहिरंग दोनो प्रकारके परिग्रहसे रहित हैं और जो वीतरागी होने पर भी समस्त भूमण्डलके हितैषी हैं, ऐसे गणधर देव प्रसन्न होवे ॥ ३ ॥

पसियउ महु धरसेणो पर-वाइ-गयोह[1]-दाण-वर-सीहो ।
सिद्धंतामिय-सायर-तरंग-संघाय-धोय-मणो ॥ ४ ॥
पणमामि पुप्फदंतं दुकयंतं दुण्णयंधयार-रविं ।
भग्ग-सिव-मग्ग-कंटयमिसि-समिइ-वइं सया दंतं ॥ ५ ॥
पणमह कय-भूय-बलिं भूयबलिं केस-वास-परिभूय-बलिं ।
विणिहय-वम्मह-पसरं वड्ढाविय-विमल-णाण-बम्मह-पसरं ॥ ६ ॥

विशेषार्थ— इस मंगलरूप गाथामें 'विविहिद्धिविराइया वि णिस्संगा' तथा 'णीराया वि कुराया' इन दो पदोंमें विरोधाभास अलंकार है। जो नाना प्रकारकी ऋद्धियोंसे विराजमान हैं वे संग अर्थात् परिग्रहरहित कैसा हो सकते हैं। उसी प्रकार जो नीराग अर्थात् वीतराग है उनके कुत्सित अर्थात् खोटा राग कैसे हो सकता है? इस विरोधका परिहार इस प्रकार कर लेना चाहिए कि गणधरदेव 'विविहिद्धिविराइया वि' अर्थात् बल, बुद्धि आदि नाना प्रकारकी ऋद्धियोंसे युक्त होने पर भी 'णिस्संगा' अर्थात् सब प्रकारके अन्तरंग और बहिरंग परिग्रहसे तथा ऋद्धियोंके उपयोगसे रहित होते हैं। उसी प्रकार वे 'णीराया वि' अर्थात् वीतराग होने पर भी 'कुराया' अर्थात् भूमण्डलमें रहनेवाले समस्त प्राणियोंके हितैषी होते हैं। अथवा, वीतराग होने पर भी अभी पृथ्वीमण्डलपर विराजमान है, मोक्षको नहीं गये हैं ॥ ३ ॥

जो परवादीरूपी हाथियोंके मदको आकांक्षा करने वाले श्रेष्ठ सिंहके समान हैं, अर्थात् जिसप्रकार सिंहके सामने मदोन्मत्त भी हाथी नहीं ठहर सकता है, किंतु वह गलितमद होकर भाग खडा होता है, उसीप्रकार जिनके सामने अन्य-मतावलम्बी अपने आप गलितमद हो जाते हैं, और सिद्धान्तरूपी अमृत-सागरकी तरंगोंके समूहसे जिनका मन धुल गया है, अर्थात्, सिद्धान्तके अवगाहनसे जिन्होंने विवेकको प्राप्त कर लिया है, ऐसे श्री धरसेन आचार्य मुझ पर प्रसन्न हो ॥ ४ ॥

जो दुष्कृत अर्थात् पापोंका अन्त करनेवाले हैं, जो कुनयरूपी अन्धकारके नाश करनेके लिये सूर्यके समान हैं, जिन्होने मोक्षमार्गके कंटकोंको (मिथ्योपदेशादि प्रतिबन्धक कारणोंको) भग्न अर्थात् नष्ट कर दिया है, जो ऋषियोंकी समिति अर्थात् सभाके अधिपति हैं, और जो निरन्तर पंचेन्द्रियोंका दमन करनेवाले हैं, ऐसे पुष्पदन्त आचार्यको मैं (वीरसेन) प्रणाम करता हूं ॥ ५ ॥

जो भूत अर्थात् प्राणिमात्रसे पूजे गये हैं, अथवा भूत-नामक व्यन्तर-जातिके देवोंसे पूजे गये हैं, जिन्होंने अपने केशपाश अर्थात् संयत-सुन्दर बालोंसे बलि अर्थात् जरा आदिसे उत्पन्न होनेवाली शिथिलताको परिभूत अर्थात् तिरस्कृत कर दिया है, जिन्होने कामदेवके प्रसारको नष्ट कर दिया है, और जिन्होने निर्मल-ज्ञानके द्वारा ब्रह्मचर्यके प्रसारको बढ़ा लिया है, ऐसे भूतबलि नामक आचार्यको प्रणाम करो ॥ ६ ॥

---

१ मु. गओह

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

मंगल-णिमित्त-हेऊ परिमाणं णाम तह य कत्तारं।
वागरिय छ प्पि पच्छा वक्खाणउ सत्थमाइरिओ ॥ १ ॥

इदि णायमाइरिय-परंपरागयं मणेणावहारिय पुव्वाइरियायाराणुसरणं ति-रयण-हेउ त्ति पुप्फदंताइरियो मंगलादीणं छण्हं[2] सकारणाणं परूवणट्ठं सुत्तमाह–

णमो अरिहंताणं[3], णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व-साहूणं ॥ १ ॥ इदि।

विशेषार्थ– जिस समय भूतबलि आचार्यने अपने गुरु धरसेन आचार्यसे सिद्धान्त-ग्रन्थ पढ़कर समाप्त किया था उस समय भूत-नामक व्यन्तर देवोंने उनकी पूजा की थी। इसका उल्लेख धवलामें आगे स्वयं किया गया है।

मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्ता, इन छह अधिकारोंका व्याख्यान करनेके पश्चात् आचार्य शास्त्रका व्याख्यान करे।

विशेषार्थ– शास्त्रके प्रारम्भमें पहिले मंगलाचरण करना चाहिये। पीछे जिस निमित्तसे शास्त्रकी रचना हुई हो, उस निमित्तका वर्णन करना चाहिये। इसके बाद शास्त्र-प्रणयनके प्रत्यक्ष और परम्परा-हेतुका वर्णन करना चाहिये। अनन्तर शास्त्रका प्रमाण बताना चाहिये। फिर ग्रन्थका नाम और आम्नायक्रमसे उसके मूलकर्ता, उत्तरकर्ता और परंपरा-कर्ताओंका उल्लेख करना चाहिये। इसके बाद ग्रंथका व्याख्यान करना उचित है : ग्रंथरचनाका यह क्रम आचार्य परंपरासे चला आ रहा है, और इस ग्रंथमें भी इसी क्रमसे व्याख्यान किया गया है ॥ १ ॥

आचार्य परंपरासे आये हुए इस न्यायको मनमें धारण करके और पूर्वाचार्योंके आचार अर्थात् व्यवहार-परंपराका अनुसरण करना रत्नत्रयका कारण है, ऐसा समझकर पुष्पदन्त आचार्य सकारण मंगलादिक छहों अधिकारोंका व्याख्यान करनेके लिये मंगल–सूत्र कहते हैं –

अरिहंतोंको नमस्कार हो, सिद्धोंको नमस्कार हो, आचार्योंको नमस्कार हो, उपाध्यायोंको नमस्कार हो, और लोकमें सर्व साधुओंको नमस्कार हो ॥ १ ॥

विशेषार्थ– यह मंगलसूत्र णमोकार मंत्रके नामसे प्रसिद्ध है। इसके अन्तिम भागमें जो 'लोए' अर्थात् 'लोकमें' और 'सव्व' अर्थात् 'सर्व' पद आये हैं, उनका संबन्ध 'णमो अरिहंताणं' आदि प्रत्येक नमस्कार वाक्यके साथ कर लेना चाहिये। इसका खुलासा आचार्यने स्वयं आगे चलकर किया है ॥

---

१ मंगल-कारण-हेदू सत्थं सपमाण-णाम-कत्तारा। पढमं चि य कहिदव्वा एसा आइरिय-परिभासा ॥ ति. प. १, ७.
गाथैषा पञ्चास्तिकाये जयसेनाचार्यकृतव्याख्यया सहोपलभ्यते। अनगारधर्मामृतेऽस्याः संस्कृतच्छाया दृश्यते।
२. मु. छण्णं ३. अ. ब. अरहंताणं ॥

कधमिदं सुत्तं मंगल-णिमित्त-हेउ-परिमाण-णाम-कत्ताराणं सकारणाणं परूवयं ? ण, तालपलंब-सुत्तं व देसामासियत्तादो ।

शंका--यह सूत्र सकारण मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्ताका प्ररूपण करता है यह कैसे संभव है ? शंकाकारका यह अभिप्राय है कि इस सूत्रमे जब कि केवल मंगल अर्थात् इष्ट-देवताको नमस्कार किया गया है तब उससे निमित्त आदि अन्य पांच अधिकारोंका स्पष्टीकरण कैसे संभव है ?

समाधान-- उपर्युक्त शंका ठीक नही है क्योंकि यह मंगलसूत्र 'ताल-प्रलम्ब' सूत्रके समान देशामर्शक होनेसे सकारण मंगलादि छहों अधिकारोंका प्ररूपण करता है,।

विशेषार्थ-- जो सूत्र अधिकृत विषयोंके एकदेश कथनद्वारा समस्त विषयोंकी सूचना करे उसे देशामर्शक सूत्र कहते हैं। इसलिये 'तालप्रलम्बसूत्र' के समान यह मंगलसूत्र भी मार्गदर्शक आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज देशामर्शक है। कल्पसूत्रके कल्पाकल्प्य नामक प्रथम उद्देश्यके प्रथम सूत्रमें 'तालपलम्ब' पद आता है, जिसका भाव यह है कि ताडवृक्षको आदि लेकर जितनी भी वनस्पतिकी जातियां है, उनके अभिन्न (विना तोडे या काटे गये) और अपक्व या कच्चे अर्थात् सचित्त मूल, पत्र फल, पुष्प आदिका लेना साधुको योग्य नहीं है । इस सूत्रमें तो केवल 'तालपलम्ब' पद ही दिया है, फिर भी उसे उपलक्षण मानकर समस्त वृक्ष-जाति और उसके पत्र पुष्पादिकोंका ग्रहण किया गया है । उसीप्रकार यह नमस्कारात्मक सूत्र भी देशामर्शक होनेसे मंगलके साथ अधिकृत निमित्त, हेतु, परिमाण और कर्ताका भी बोधक है ।

---

१ देशामर्शकस्य स्पष्टीकरणम्-

'जेणेदं सुत्त देसामासियं, तेण उत्तासेसलक्खणाणि एदेण वत्ताणि '। स. प्रतौ पृ. ४८६. 'एदं देसामासिगसुत्तं कुदो ? एगदेसपदुप्पायणेण एत्थतणसयलत्थस्स सूचयत्तादो '। स. प्रतौ पृ. ४६८. 'एदं देसा-मासियसुत्त देसपदुप्पायणमुहेण सूचिदाणेयत्थादो '। स. प्रतौ पृ. ५८९. । 'एदं देसामासियसुत्तं, तेणेदेण आमासियत्थेण अणामासियत्थो उच्चदे '। स. प्रतौ पृ. ५९५. देसामासियसुत्तं आचेलक्कं त्ति तं खु ठिदिकप्पे लुत्तोऽथवादिसद्दो, जह तालपलंबसुत्तम्मि ॥ मूलारा ११२३

'देसामासिय ' इत्यादि स्थितिकल्पे वाच्ये तत्प्रथमतयोपदिष्टमाचेलक्यमिति सूत्रं देशामर्शकम् । बाह्यपरिग्रहैकदेशस्य चेलस्य परामर्शकं बाह्यपरिग्रहाणामुपलक्षणार्थमुपात्तम् । यथा 'तालपलंबं ण कप्पदि ' त्ति सूत्रं तालशब्दो वनस्पत्येकदेशस्य तरुविशेषस्य परामर्शको वनस्पतीनामुपलक्षणाय गृहीतः । तथा चोक्तं कल्पे, हरिदतणोसधिगुच्छा गुम्मा वल्ली लदा य रुक्खा य । एवं वणप्फदीओ तालादेसेण आदिट्ठा ॥ तालेदि दलेदि त्ति य तलेव जादो त्ति उस्सिदो व त्ति । तालादिणो तरु त्ति य वणप्फदीणं हवदि णामं ॥ तालस्य प्रलम्बं तालप्रलम्बम् । प्रलम्बं च द्विविधं, मूलप्रलम्बं अग्रप्रलम्बं च । तत्र मूलप्रलम्बं भूम्यनुप्रवेशि कन्दमूलाङ्कुरादिकम्, ततोऽन्यदग्रप्रलम्बम्, अङ्कुरप्रवालपत्रपुष्पफलादिकम् । वनस्पतिकन्दादिकमनुभोक्तुं निर्ग्रन्थानामार्याणां च न युज्यते इति । यथा "तालपलंब ण कप्पदि त्ति " इत्यत्र सूत्रेऽर्थस्तथा सकलोऽपि बाह्यः परिग्रहो मुमुक्षूणा ग्रहीतुं न युज्यते इत्याचेलक्केति सूत्रेऽर्थ इति तात्पर्यम् । तथा चोक्तम् तद्देशामर्शकं सूत्रमाचेलक्यमिति स्थितम् । लुप्तोऽथवादिशब्दोऽत्र तालप्रलम्बसूत्रवत् ॥ मूलारा. टी. अच्चेलक्कुद्देसियसेज्जाहररायपिंडकिदियम्मे वदजेट्ठ-पडिक्कमणे मासं पज्जो समणकप्पो ॥ मूलारा. ४२१ अहवा एगग्गहणे गहणं तज्जातियाण सव्वेसिं । तेणऽग्गपलंबेण तु सूइया सेसगपलंबा ॥ बृ. क. सू. ८५५.

तत्थ धाउ-णिक्खेव-णय-एयत्थ-णिरुत्ति-अणियोग-द्दारेहि मंगलं परूविज्जदि। तत्थ धाऊ 'भू सत्तायां इच्चेवमाइओ सयलत्थ-वत्थाणं सद्दाणं मूल-कारणभूदो। तत्थ 'मगि' इदि अणेण धाउणा णिप्पण्णो मंगल-सद्दो[1]। धाउ-परूवणा किमट्ठं कीरदे ? 'ण, अणवगय-धाउस्स सिस्सस्स अत्थावगमाणुववत्तीदो। उक्तं च–

शद्वात्पदप्रसिद्धिः पदसिद्धेरर्थनिर्णयो भवति।[2]
अर्थात्तत्त्वज्ञानं तत्वज्ञानात्परं श्रेयः ॥ २ ॥ इति।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

णिच्छये णिण्णए खिवदि त्ति णिक्खेवो। सो वि छव्विहो/[3] णाम-ट्ठवणा-

उन उक्त मंगलादि छह अधिकारोंमें से पहले धातु, निक्षेप, नय, एकार्थ, निरुक्ति और अनुयोगके द्वारा 'मंगल' का प्ररुपण किया जाता है। उनमें 'भू' धातु सत्ता अर्थमें है, इसको आदि लेकर, समस्त पदार्थोंकी अवस्थाके वाचक शद्बोंका जो मूल कारण है उसे धातु कहते हैं। उनमेंसे 'मगि' धातुसे मंगल शद्ब निष्पन्न हुआ है। अर्थात् 'मगि' धातुमें 'अलच्' प्रत्यय जोड देने पर मंगल शद्ब बन जाता है।

शंका– यहां धातुका निरूपण किसलिये किया जा रहा है ? शंकाकारका यह अभिप्राय है कि यह ग्रन्थ सिद्धान्त-विषयका प्ररूपक है, इसलिये इसमें धातुके कथनकी कोई आवश्यकता नहीं थी। इसका कथन तो व्याकरण-शास्त्रमें करना चाहिये।

समाधान– ऐसी शंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि, जो शिष्य धातुसे अपरिचित है अर्थात् किस धातुसे कौन शद्ब बना है इस बातको नहीं जानता है, उसे धातुके परिज्ञानके विना विवक्षित शद्बके अर्थका ज्ञान नहीं हो सकता है। और अर्थ-बोधके लिये विवक्षित शद्बके अर्थका ज्ञान कराना आवश्यक है। इसलिये यहांपर धातुका निरूपण किया गया है। कहा भी है –

शद्बसे पदकी प्रसिद्धि होती है, पदकी सिद्धिसे उसके अर्थका निर्णय होता है, अर्थ-निर्णयसे तत्त्वज्ञान अर्थात् हेयोपादेय विवेककी प्राप्ति होती है, और तत्त्वज्ञानसे परम कल्याण होता है ॥ २ ॥

---

१ 'मङ्गेरलच्' पा. उ. ५, ७०.

२ श्लोकोऽयं 'व्याकरणात्पदसिद्धिः' इत्येतावन्मात्रपाठभेदेन सह प्रभाचन्द्रकृत-शाकटायनन्यास-सिद्ध-हैमादिव्याकरणग्रन्थेषूपलभ्यते।

३ जुत्तीसु जुत्त मग्गे जं चउभेएण होइ खलु ट्ठवणं। कज्जे सदि णामादिसु तं णिक्खेवं हवे समए ॥ नयच. २६९ निक्खिप्पइ तेण तहिं तओ व निक्खेवणं व निक्खेवो। नियओ वा निच्छओ वा खेवो नासो त्ति जं भणियं ॥ वि. भा. ९१२ निक्षेपणं शास्त्रादेर्नामस्थापनादिभेदैर्न्यसनं व्यवस्थापनं निक्षेपः। निक्षिप्यते नामादिभेदैर्व्यवस्थाप्यतेऽनेनास्मादिति वा निक्षेपः। वि. भा. ९१२ म. टी

दव्व-खेत्त-काल-भाव-मंगलमिदि[1]

उच्चारियमत्थपदं[2] णिक्खेवं वा कयं तु दट्ठूण ।
अत्थं णयंति तच्चंतमिदि तदो ते णया भणिया[3] ॥ ३ ॥

इदि वयणादो कय-णिक्खेवे दट्ठूण णयाणमवदारो भवदि । को णयो णाम ?

मार्गदर्शक : आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जो किसी एक निश्चय या निर्णयमें क्षेपण करता है, अर्थात् अनिर्णीत वस्तुका उसके नामादिकद्वारा निर्णय कराता है उसे निक्षेप कहते हैं । वह नाम, स्थापना द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके भेदसे छह प्रकारका, है, और उसके संबन्धसे मंगल भी छह प्रकारका हो जाता है,। नाममंगल, स्थापनामंगल, द्रव्यमंगल, क्षेत्रमंगल, कालमंगल, और भावमंगल ।

उच्चारण किये गये अर्थ-पद और उसमें किये गये निक्षेपको देखकर अर्थात् समझकर पदार्थको ठीक निर्णयतक पहुंचा देते हैं, इसलिये वे नय कहलाते हैं ॥ ३ ॥

विशेषार्थ– आगमके किसी श्लोक, गाथा, वाक्य अथवा पदके ऊपरसे अर्थ-निर्णय करनेके लिये पहले निर्दोष पद्धतिसे श्लोकादिकका उच्चारण करना चाहिये, तदनन्तर पदच्छेद करना चाहिये, उसके बाद उसका अर्थ कहना चाहिये, अनन्तर पद-निक्षेप अर्थात् नामादि विधिसे नयोंका अवलंबन लेकर पदार्थका ऊहापोह करना चाहिये । तभी पदार्थके स्वरूपका निर्णय होता है । पदार्थ-निर्णयके इस क्रमको दृष्टिमें रखकर गाथाकारने अर्थ-पदका उच्चारण करके, और उसमें निक्षेप करके, नयोंके द्वारा, तत्व-निर्णयका उपदेश दिया है । गाथामें 'अत्थपदं' इस पदसे पद, पदच्छेद और उसका अर्थ ध्वनित किया गया है । जितने अक्षरोंसे वस्तुका बोध हो उतने अक्षरोंके समूहको 'अर्थ-पद' कहते हैं । 'णिक्खेवं' इस पदसे निक्षेप-विधिकी, और 'अत्थं णयंति तच्चंतं' इत्यादि पदोंसे पदार्थ-निर्णयके लिये नयोंकी आवश्यकता बतलाई गई है ॥ ३ ॥

पूर्वोक्त वचनके अनुसार पदार्थमें किये गये निक्षेपको देखकर नयोंका अवतार होता है ।

शंका– नय किसे कहते हैं ?

---

१ णामणिट्ठावणादो दव्वक्खेत्ताणि कालभावा य । इय छब्भेयं भणियं मंगलमाणंदसंजणणं ॥
ति. प. १, ८.

२ जेत्तिएहि अक्खरेहि अत्थोवलद्धी होदि तेसिमक्खराणं कलाओ अत्थपदं णाम । जयध. अ. पृ. १२.

३ गाथेयं पाठभेदेन जयधवलायामप्युपलभ्यते । तद्यथा, उच्चारियम्मि दु पदे णिक्खेवं वा कयं तु दट्ठूण । अत्थं णयंति ते तच्चदो वि तम्हा णया भणिया । जयध. अ.पृ.३० सुत्तं पयं पयत्थो पय-निक्खेवो य निन्नय-प्रसिद्धी । बृ. क. सू. ३०९.

णयदि त्ति णयो भणिओ बहूहि गुण-पज्जएहि जं दव्वं[1] ।
परिमाण-खेत्त-कालंतरेसु अविणट्ठ-सब्भावं ॥ ४ ॥
तित्थयर-वयण संगह-विसेस-पत्थार-मूल वायरणी ।
दव्वट्ठिओ य पज्जय-णयो य सेसा वियप्पा सिं[3] ॥ ५ ॥
दव्वट्ठिय-णय-पयई सुद्धा संगह-परूवणा-विसयो ।
पडिरूवं पुण वयणत्थ-णिच्छयो तस्स ववहरो ॥ ६ ॥

अनेक गुण और उनके अनेक पर्यायोंसहित, अथवा उनकेद्वारा, एक परिणामसे दूसरे परिणाममें एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें और एक कालसे दूसरे कालमें अविनाशी-स्वभावरूपसे रहनेवाले द्रव्यको जो ले जाता है, अर्थात् उसका ज्ञान करा देता है, उसे नय कहते हैं ॥ ४ ॥

विशेषार्थ– आगममें द्रव्यका लक्षण दो प्रकारसे बतलाया है, एक 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' अर्थात् जिसमें गुण और पर्याय पाये जांय उसे द्रव्य कहते हैं। और दूसरा 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' व 'सद् द्रव्यलक्षणम्' जो उत्पत्ति, विनाश और स्थिति-स्वभाव होता है वह सत् है, और सत् ही द्रव्यका लक्षण है। यहां पर नयकी निरुक्ति करते समय द्रव्यके इन दोनों लक्षणोंपर दृष्टि रक्खी गई प्रतीत होती है। नय किसी विवक्षित पर्यायद्वारा ही द्रव्यका बोध कराता है। नयके इस लक्षणका संकेत भी 'गुणपज्जएहि' पदद्वारा हो जाता है। यह पद तृतीया विभक्ति सहित होनेसे उसे द्रव्यके लक्षणमें तथा निरुक्तिके साथ नयके लक्षणमें भी ले सकते हैं ॥ ४ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तीर्थंकरोंके वचनोंके सामान्य प्रस्तारका मूल व्याख्यान करनेवाला द्रव्यार्थिक नय है और उन्हीं वचनोंके विशेष-प्रस्तारका मूल व्याख्याता पर्यायार्थिक नय है। शेष सभी नय इन दोनों नयोंके विकल्प अर्थात् भेद हैं ॥ ५ ॥

विशेषार्थ– जिनेन्द्रदेवने दिव्यध्वनिके द्वारा जितना भी उपदेश दिया है, उसका, अभेद अर्थात् सामान्यकी मुख्यतासे प्रतिपादन करनेवाला द्रव्यार्थिक नय है, और भेद अर्थात् पर्यायकी मुख्यतासे प्रतिपादन करनेवाला पर्यायार्थिक नय है। ये दोनों ही नय समस्त विचारों अथवा शास्त्रोंके आधारभूत हैं, इसलिये उन्हें यहां मूल व्याख्याता कहा है। शेष संग्रह व्यवहार, ऋजुसूत्र शब्द आदि इन दोनों नयोंके अवान्तर भेद हैं ॥ ५ ॥

संग्रह नयकी प्ररूपणाको विषय करना द्रव्यार्थिक नयकी शुद्ध प्रकृति है, और वस्तुके

---

१ "अनन्त-पर्यायात्मकस्य वस्तुनः अन्यतम-पर्यायाधिगमे कर्तव्ये जात्ययुक्त्यपेक्षो निरवद्य-प्रयोगो नय इति अयं वाक्य-नयः तत्त्वार्थ-भाष्य-गतः।" जयध अ. पृ. २६ स्याद्वाद-प्रविभक्तार्थ-विशेष-व्यञ्जको नयः। आ मी. १०६ वस्तुन्यनेकान्तात्मन्यविरोधेन हेत्वर्पणात्साध्य-विशेषस्य याथात्म्य-प्रापण-प्रवण-प्रयोगो नयः। स.सि. १, ३३ प्रमाण-प्रकाशितार्थ-विशेष-प्ररूपको नयः। त. रा. वा. १, ३३. प्रमाणेन वस्तु-संगृहीतार्थैकांशो नयः। श्रुत-विकल्पो वा ज्ञातुरभिप्रायो वा नयः। नानास्वभावेभ्यो व्यावृत्य एकस्मिन् स्वभावे वस्तु नयति प्राप्नोति वा नयः। आ. प. १२१. जीवादीन् पदार्थान्नयन्ति प्राप्नुवन्ति कारयन्ति साधयन्ति निर्वर्तयन्ति निर्भासयन्ति उपलम्भयन्ति व्यञ्जयन्ति इति नयाः। स. त सू. १, ३५ ज णाणीण वियप्पं सुअ-भेयं वत्थु-अंस-संगहणं। तं इह णयं पउत्तं, णाणी पुण तेहि णाणेहिं ॥ न. च. १७४.

२ दव्वं सल्लक्खणियं उप्पाद-व्वय-धुवत्त-संजुत्तं। गुण-पज्जयासयं वा जं तं भणंति सव्वण्हू ॥ पञ्चा. १० अपरिचत्त-सहावेणुप्पाद-व्वयधुवत्तसंजुत्तं। गुणवं च सपज्जायं जं तं दव्वं ति वुच्चंति ॥ प्रवच. २, ३.

३ एतामारभ्य चतस्रो गाथाः सिद्धसेन-दिवाकर-प्रणीत-सन्मतितर्के प्रथमे काण्डे गाथाङ्क ३, ४, ५, ११ इति क्रमेणोपलभ्यन्ते।

मूल-णिमेणं[1] पज्जव-णयस्स उज्जुसुद-वयण-विच्छेदो[2] ।
तस्स दु सद्दादीया साहुपसाहा[3] सुहुमभेया ॥ ७ ॥

प्रत्येक भेदके प्रति शद्वार्यका निश्चय करना उसका व्यवहार है। अर्थात् व्यवहार नयकी प्ररूपणाको विषय करना द्रव्यार्थिक नयकी अशुद्ध प्रकृति है ॥ ६ ॥

विशेषार्थ– वस्तु सामान्य-विशेष-धर्मात्मक है। उनमेंसे सामान्य-धर्मको विषय करना द्रव्यार्थिक और विशेष-धर्मको (पर्यायको) विषय करना पर्यायार्थिक नय है । उनमेंसे संग्रह और व्यवहारके भेदसे द्रव्यार्थिक नय दो प्रकारका है। जो अभेदको विषय करता है उसे संग्रह नय कहते हैं । और जो भेदको विषय करता है उसे व्यवहार नय कहते हैं। ये दोनों ही द्रव्यार्थिक नयकी क्रमशः शुद्ध और अशुद्ध प्रकृति है । जब तक द्रव्यार्थिक नय घट, पट आदि विशेष भेद न करके द्रव्य सत्स्वरूप है इसप्रकार द्रव्यको अभेदरूपसे ग्रहण करता है तब तक वह उसकी शुद्ध प्रकृति समझनी चाहिये । इसे ही संग्रह नय कहते हैं । तथा सत्स्वरूप जो द्रव्य है, उसके जीव और अजीव ये दो भेद हैं । जीवके संसारी और मुक्त इसतरह दो भेद हैं । अजीव भी पुग्दल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इस तरह पांच भेदरूप है । इसप्रकार उत्तरोत्तर प्रभेदोंकी अपेक्षा अभेदको स्पर्श करता हुआ भी जब वह भेदरूपसे वस्तुको ग्रहण
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
करता है, तब वह उसकी अशुद्ध प्रकृति समझनी चाहिये। इसीको व्यवहार नय कहते हैं। यहां पर इतना विशेष समझना चाहिये कि वस्तुमें चाहे जितने भेद किये जावें, परंतु वे काल निमित्तक नहीं होना चाहिये, क्योंकि वस्तुमें काल निमित्तक भेदकी प्रधानतासे ही पर्यायार्थिक नयका अवतार होता है । द्रव्यार्थिक नयकी अशुद्ध प्रकृतिमें द्रव्यभेद अथवा सत्ताभेद ही इष्ट है, कालनिमित्तक भेद इष्ट नहीं है ॥ ६ ॥

ऋजुसूत्र वचनका विच्छेदरूप वर्तमान काल ही पर्यायार्थिक नयका मूल आधार है, और शद्वादिकनय शाखा-उपशाखारूप उसके उत्तरोत्तर सूक्ष्म भेद हैं ॥ ७ ॥

विशेषार्थ– वर्तमान समयवर्ती पर्यायको विषय करना ऋजुसूत्र नय है। इसलिये जब तक द्रव्यगत भेदोंकी ही मुख्यता रहती है, तब तक व्यवहार नय चलता है, और जब कालनिमित्तक भेद प्रारम्भ हो जाता है, तभीसे ऋजुसूत्र नयका प्रारम्भ होता है । शद्व, समभिरूढ और एवंभूत इन तीन नयोंका विषय भी वर्तमान पर्यायमात्र है । परंतु उनमें ऋजुसूत्रके विषयभूत अर्थके वाचक शद्वोंकी मुख्यता से अर्थभेद इष्ट है, इसलिये उनका विषय ऋजुसूत्रसे सूक्ष्म सूक्ष्मतर

---

१ ' णिमेणमवि ठाणे ' देशी ना. ४, ३७.

२ ऋजुसूत्रवचनविच्छेदो मूलाधारो येषां नयानां ते पर्यायार्थिकाः। विच्छिद्यतेऽस्मिन् काल इति विच्छेदः। ऋजुसूत्रवचनं नाम वर्तमानवचनं, तस्य विच्छेदः ऋजुसूत्रवचनविच्छेदः । स कालो मूल आधारो येषां नयानां ते पर्यायार्थिकाः । ध. पु. १, पृ. ८४.

३ मु साहुपसाहा ।

उप्पज्जंति वियंति य भावा णियमेण पज्जव-णयस्स ।
दव्वट्ठियस्स सव्वं सदा अणुप्पण्णमविणट्ठं ॥ ८ ॥

और सूक्ष्मतम माना गया है । अर्थात् ऋजुसूत्रके विषयमें लिंग आदिसे भेद करनेवाला शब्दनय, शब्दनयसे स्वीकृत लिंग, वचनवाले शब्दोंमें व्युत्पत्तिभेदसे अर्थभेद करनेवाला समभिरूढ नय, और पर्याय-शब्दको उस शब्दसे ध्वनित होनेवाले क्रियाकालमें ही वाचक माननेवाला एवंभूत नय समझना चाहिये । इसतरह ये शब्दादिक नय उस ऋजुसूत्र नयकी शाखा उपशाखा हैं, यह सिद्ध हो जाता है । अतएव ऋजुसूत्र नय पर्यायार्थिक नयका मूल आधार माना गया है ॥ ७॥

पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा पदार्थ नियमसे उत्पन्न होते हैं और नाशको प्राप्त होते हैं, क्योंकि, प्रत्येक द्रव्यमें प्रतिक्षण नवीन-नवीन पर्यायें उत्पन्न होती हैं और पूर्व-पूर्व पर्यायोंका नाश होता है । किंतु द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा वे सदा अनुत्पन्न और अविनष्ट स्वभाववाले हैं । उनका न तो कभी उत्पाद होता है और न कभी नाश होता है, वे सदाकाल स्थितिस्वभाव रहते हैं ॥ ८ ॥

विशेषार्थ— उत्पाद दो प्रकारका माना गया है, उसीप्रकार व्यय भी । एक स्वनिमित्त और दूसरा परनिमित्त । इसका खुलासा इसप्रकार समझना चाहिये कि प्रत्येक द्रव्यमें आगम प्रमाणसे अगुरुलघुगुणके अनन्त अविभागप्रतिच्छेद माने गये हैं । जो षड्गुणहानि और षड्गुणवृद्धीरूपसे निरंतर प्रवर्तमान रहते हैं । इसलिये इनके आधारसे प्रत्येक द्रव्यमें उत्पाद और व्यय हुआ करता है । इसीको स्वनिमित्तोत्पाद-व्यय कहते हैं । उसीप्रकार पर निमित्तसे भी द्रव्यमें उत्पाद और व्ययका व्यवहार किया जाता है । जैसे, स्वर्णकारने कडेसे कुण्डल बनाया । यहां पर स्वर्णकारके निमित्तसे कडेरूप सोनेकी पर्याय नष्ट होकर कुण्डलरूप पर्यायका उत्पाद हुआ है और इसमें स्वर्णकार निमित्त है, इसलिये इसे पर-निमित्त उत्पाद-व्यय समझ लेना चाहिये । इसी प्रकार आकाशादि निष्क्रिय द्रव्योंमें भी स्वपर-निमित्त उत्पाद और व्यय समझ लेना चाहिये । क्योंकि आकाशादि निष्क्रिय द्रव्य दूसरे पदार्थोंके अवगाहन, गति आदिमें कारण पडते हैं । और अवगाहन, गति आदिमें निरन्तर भेद दिखाई देता है । इसलिये अवगाहन, गति आदिके कारण भी भिन्न होने चाहिये । स्थित वस्तुके अवगाहनमें जो आकाश कारण है उससे भिन्न दूसरा ही आकाश क्रिया-परिणत वस्तुके अवगाहनमें कारण है । इसतरह अवगाह्यमान वस्तुके भेदसे आकाशमें भेद सिद्ध हो जाता है । और इसलिये आकाशमें पर-निमित्तसे भी उत्पाद-व्ययका व्यवहार किया जाता है । इसी प्रकार धर्मादिक द्रव्योंमें भी पर-निमित्तसे उत्पाद और व्यय समझ लेना चाहिये । इसप्रकार यह सिद्ध हो गया कि पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा पदार्थ उत्पन्न भी होते हैं और नाशको भी प्राप्त होते हैं । इस प्रकार अनन्त-कालसे अनन्त-पर्याय-परिणत होते रहने पर भी द्रव्यका कभी भी नाश नहीं होता है । और न एक द्रव्यके गुण-धर्म बदलकर कभी दुसरे द्रव्य-रूपही हो जाते हैं । अतएव द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा पदार्थ सर्वदा स्थिति-स्वभाव हैं ॥ ८ ॥

तत्थ णेगम-संगह-ववहार-णएसु सव्वे एदे णिक्खेवा[1] हवंति, तव्विसयम्मि तब्भव[2]-सारिच्छ-सामण्णम्हि सव्व-णिक्खेव-संभवादो। कधं दव्वट्ठिय-णये भाव णिक्खेवस्स संभवो ? ण, वट्टमाण-पज्जायोवलक्खियं दव्वं भावो इदि दव्वट्ठियणयस्स वट्टमाण-मवि आरंभप्पहुडि आ उवरमादो। संगहे सुद्ध-दव्वट्ठिए वि भाव-णिक्खेवस्स अत्थित्तं ण विरुज्झदे, सुवकुक्खि[3] -णिक्खित्तासेस-विसेस-सत्ताए सव्व-कालमवट्ठिदाए भावब्भुवगमादो त्ति।

उन सात नयोंमेंसे नैगम, संग्रह और व्यवहार, इन तीन नयोंमें नाम, स्थापना आदि सभी निक्षेप होते हैं, क्योंकि, इन नयोंके विषयभूत तद्भव-सामान्य और सादृश्य-सामान्यमें सभी निक्षेप संभव हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शंका– द्रव्यार्थिकनयमें भावनिक्षेप कैसे संभव है ? अर्थात् जिस पदार्थमें भावनिक्षेप होता है वह तो उस पदार्थकी वर्तमान पर्याय है, परंतु द्रव्यार्थिकनय सामान्यको विषय करता है, पर्यायको नहीं। इसलिये द्रव्यार्थिक नयमें जिसप्रकार दूसरे निक्षेप घटित हो जाते हैं उसप्रकार भावनिक्षेप घटित नही हो सकता है। भावनिक्षेपका अन्तर्भाव तो पर्यायार्थिक नयमें संभव है ?

समाधान– ऐसा नहीं है, क्योंकि, वर्तमान पर्यायसे युक्त द्रव्यको ही भाव कहते है, और वह वर्तमान पर्याय भी द्रव्यकी आरम्भसे लेकर अन्ततककी पर्यायोंमें आ ही जाती है। तथा द्रव्य अर्थात् सामान्य, द्रव्यार्थिक नयका विषय है जिसमें द्रव्यकी त्रिकालवर्ती पर्यायें। अन्तर्निहित हैं, अतएव द्रव्यार्थिक नयमें भावनिक्षेप भी बन जाता है। यहां पर पर्यायकी गौणता और द्रव्यकी मुख्यतासे भावनिक्षेपका द्रव्यार्थिक नयमें अन्तर्भाव समझना चाहिये।

इसप्रकार शुद्ध द्रव्यार्थिक संग्रह नयमें भी भावनिक्षेपका अन्तर्भाव विरोधको प्राप्त नहीं होता है, क्यों कि जो महासत्ता अपनी कुक्षिमें समस्त विशेष सत्ताओंको समाविष्ट किये हुए है और जो सदाकाल अवस्थित है उसे ही भावरूपसे स्वीकार किया गया है।

अभेदरूपसे वस्तुको जब भी ग्रहण किया जायगा, तब ही वह वर्तमान पर्यायसे युक्त होगी ही, इसलिये वर्तमान पर्यायका अन्तर्भाव महासत्तामें हो जाता है। और शुद्ध संग्रह नयका महासत्ता विषय है, अतएव संग्रह नयमें भी भावनिक्षेपका अन्तर्भाव हो जाता है। यहां पर भी पर्यायकी गौणता और द्रव्यकी मुख्यता समझना चाहिये।

---

१ णेगम-संगह ववहारा सव्वे इच्छंति। कसाय-पाहुड.चुण्णि (जयध. अ.) पृ. ३०

२ सामान्यं द्वेधा, तिर्यगूर्ध्वताभेदात्। सदृशपरिणामस्तिर्यक्, खण्ड-मुण्डादिषु गोत्ववत्। परापर-विवर्तव्यापि-द्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु। प. मु. ४, ३-५.

३ मु, सुकुक्खि।

णामं ठवणा दविए त्ति एस दव्वट्ठियस्स णिक्खेवो ।
भावो दु पज्जवट्ठिय-परूवणा एस परमट्ठो[1] ॥ ९ ॥

अणेण सम्मइ-सुत्तेण सह कधमिदं वक्खाणं ण विरुज्झदे ? इदि । ण, तत्थ पज्जायस्सलक्खण-क्खइणो भावब्भुवगमादो ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

उज्जुसुदे[2] ट्ठवण-णिक्खेवं वज्जिऊण सव्वे णिक्खेवा हवंति, तत्थ सारिच्छ-सामण्णाभावादो ।

कधमुज्जुसुदे पज्जवट्ठिए दव्व-णिक्खेवो त्ति ? ण, तत्थ वट्टमाण-समयाणंत-गुणण्णिद-एग-दव्व-संभवादो । ण तत्थ णाम-णिक्खेवाभावो वि, सद्दोवलद्धि-काले णियतव्वाचयत्तुवलंभादो[3] । सद्द-समभिरूढ-एवंभूद-णएसु[4] वि णाम-भाव-णिक्खेवा हवंति, तेसिं चेय तत्थ संभवादो । एत्थ किमट्ठं णय-परूवणमिदि ?

शंका– नाम, स्थापना और द्रव्य ये तीनों द्रव्यार्थिक नयके निक्षेप हैं, और भाव पर्यायार्थिक नयकी प्ररूपणा है । यही परमार्थ सत्य है ॥ ९ ॥

सन्मतिकर्कके इस कथनसे 'भावनिक्षेपका द्रव्यार्थिक नयमें अथवा संग्रह नयमें भी अन्तर्भाव होता है' यह व्याख्यान क्यों नही विरोधको प्राप्त होगा ?

शंकाकारका यह अभिप्राय है, कि सन्मतिकारने भावनिक्षेपका केवल पर्यायार्थिक नयमें भी अन्तर्भाव किया है । परंतु यहांपर उसका द्रव्यार्थिक नयमें अन्तर्भाव किया गया है । इसलिये यह कथन तो सन्मतिकारके कथनसे विरुद्ध प्रतीत होता है ।

समाधान– ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि, सन्मतितर्कमें, जो पर्यायरूप स्वलक्षण क्षणिक है इसे भावरूपसे स्वीकार किया गया है । अर्थात् सन्मतितर्कमें पर्यायकी विवक्षासे कथन किया है, और यहां पर द्रव्यसे अभिन्न वर्तमान पर्यायको द्रव्य मानकर कथन किया है । इसलिये कोई विरोध नही आता है ।

ऋजुसूत्र नयमें स्थापना निक्षेपको छोड़कर शेष सभी निक्षेप संभव हैं, क्योंकि ऋजुसूत्र नयमें सादृश्य-सामान्यका ग्रहण नही होता है । और स्थापनानिक्षेप सादृश्य-सामान्यकी मुख्यतासे होता है ।

---

१. स. त. १, ६. नामोक्तं स्थापनाद्रव्यं द्रव्यार्थिकनयार्पणाद् । पर्यायार्थार्पणाद् भावस्तैर्न्यासः सम्यगीरितः ॥ त. श्लो. वा. १, ६. ६९ नामाइतियं दवट्ठियस्स भावो य पज्जवनयस्स । संगह ववहारा पढमगस्स सेसा य इयरस्स ॥ वि. भा. ७५. पर्यायार्थिकेन पर्यायतत्त्वमधिगन्तव्यम्, इतरेषां नामस्थापनाद्रव्याणां द्रव्यार्थिक-नयेन सामान्यात्मकत्वात् । स. सि. १, ६. वृत्ति.

२. उजुसुदो ठवण-वज्जे । कसाय-पाहुड-चुण्णि (जयध. अ,) पृ. ३०.

३. मु णियतवाचयत्तुवलंभादो ।

४. सद्द-णयस्स णाम-भाव-णिक्खेवा । कसाय-पाहुड-चुण्णि । (जयध. अ,) पृ. ३१.

प्रमाण-नय-निक्षेपैर्योऽर्थं नाभिसमीक्षते ।
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
युक्तं चायुक्तवद्भाति तस्यायुक्तं च युक्तवत्[1] ॥ १० ॥
ज्ञानं प्रमाणमित्याहुरुपायो न्यास उच्यते ।
नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थ-परिग्रहः[2] ॥ ११ ॥ इति ।

ततः कर्तव्यं नयनिरूपणम् ।

शंका— ऋजुसूत्र तो पर्यायार्थिक नय है, उसमें द्रव्यनिक्षेप कैसे घटित हो सकता है ?

समाधान— ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि, ऋजुसूत्र नयमें वर्तमान समयवर्ती पर्यायसे अनन्तगुणान्वित एक द्रव्यही तो विषयरूपसे संभव है ।

विशेषार्थ— पर्याय द्रव्यको छोड़कर स्वतन्त्र नहीं रहती है, और ऋजुसूत्रका विषय वर्तमान पर्यायविशिष्ट द्रव्य है । इसलिये ऋजुसूत्र नयमें द्रव्यनिक्षेप भी संभव है ।

इसी प्रकार ऋजुसूत्र नयमें नामनिक्षेपका भी अभाव नहीं है, क्योंकि, जिस समय शब्दका ग्रहण होता है, उसी समय उसकी निज वाचकता पाई जाती है ।

शब्द, समभिरूढ और एवंभूत नयमें भी नाम और भाव ये दो निक्षेप होते हैं, क्योंकि ये दो ही निक्षेप वहां पर संभव हैं, अन्य नहीं ।

विशेषार्थ— शब्द, समभिरूढ और एवंभूत, ये तीनों ही नय शब्द-प्रधान हैं, और शब्द किसी न किसी संज्ञाके वाचक होते ही हैं । अतः उक्त तीनों नयोंमें नाम-निक्षेप बन जाता है । तथा उक्त तीनों नयवाचक शब्दोंके उच्चारण करते ही वर्तमानकालीन पर्यायको भी विषय करते हैं, अतएव उनमें भाव-निक्षेप भी बन जाता है ।

शंका— यहां पर नयका निरूपण किसलिये किया गया है ?

समाधान— जो पदार्थका प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके द्वारा, नैगमादि नयोंके द्वारा और नामादि निक्षेपोंके द्वारा सूक्ष्म-दृष्टिसे विचार नहीं करता है, उसे पदार्थका समीक्षण कभी युक्त (संगत) होते हुए भी अयुक्त (असंगत) सा प्रतीत होता है और कभी अयुक्त होते हुए भी युक्तकी तरह प्रतीत होता है ॥ १० ॥

---

१. जो ण पमाण-णएहिं णिक्खेवेणं णिरिक्खदे अत्थं । तस्साजुत्तं जुत्तं जुत्तमजुत्तं व पडिहाइ ।
तिं. प. १. ८२.
अत्थं जो न समिक्खइ निक्खेव-णय-प्पमाणओ विहिणा । तस्साजुत्तं जुत्तं जुत्तमजुत्तं व पडिहाइ ।
वि. भा. २७६४.

२. ज्ञानं प्रमाणमात्मादेरुपायो न्यास उच्यते । नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थ-परिग्रहः ॥ लघीय. ६,२. णाणं होदि पमाणं णओ वि णादुस्स हिदय-भावत्थो । णिक्खेओ वि उवाओ जुत्तीए अत्थपडिगहणं ॥ ति. प. १,८३. वत्थू पमाणविसयं णयविसयं हवइ वत्थु-एयंसं । जं दोहि णिण्णयट्ठं तं णिक्खेवे हवे विसयं ॥ णाणासहाव-भरियं वत्थु गहिऊण तं पमाणेण । एयंतणासणट्ठं पच्छा णय-जुंजणं कुणह ॥ जम्हा णएण ण विणा होइ णरस्स सिय-वाय-पडिवत्ती । तम्हा सो णायव्वो एयंतं हंतुकामेण ॥ न. च. १७२, १७३, १७५.

इदाणिं णिक्खेवत्थं भणिस्सामो । तत्थ णाम-मंगलं णाम णिमित्तंतर[1]-णिरवेक्खा मंगल-सण्णा । तत्थ णिमित्तं चउव्विहं, जाइ-दव्व-गुण-किरिया चेदि । तत्थ जाई तब्भवसारिच्छ-लक्खण-सामण्णं । दव्वं दुविहं संजोय-दव्वं समवाय-दव्वं चेदि । तत्थ संजोय-दव्वं णाम पुध पुध पसिद्धाणं दव्वाणं संजोगेण णिप्पण्णं । समवाय-दव्वं णाम जं दव्वं दव्वम्मि[2] समवेदं । गुणो णाम पज्जायादि-परोप्पर-विरुद्धो-अविरुद्धो वा । किरिया णाम परिप्फंदणरूवा । तत्थ जाइ-णिमित्तं णाम गो-मणुस्स-घड-पड-त्थंभवेत्तादि[3] । संजोग-दव्व-णिमित्तं णाम दंडी छत्ती मउली[4] इच्चेवमादि[5] । समवाय-दव्व-णिमित्तं[6] णाम गल-गंडो काणो कुंडो इच्चेवमाइ । गुण-णिमित्तं णाम किण्हो रुहिरो इच्चेवमाइ[7] । किरिया-णिमित्तं णाम गायणो णच्चणो इच्चेवमाइ[8] । ण च एदे चत्तारि णिमित्ते मोत्तूण णाम-पउत्तीए अण्णं[9] णिमित्तंतरमत्थि ।

विद्वान् लोग सम्यग्ज्ञानको प्रमाण कहते हैं; नामादिकके द्वारा वस्तुमें भेद करनेके उपायको न्यास या निक्षेप कहते हैं; और ज्ञाताके अभिप्रायको नय कहते हैं । इसप्रकार युक्तिसे अर्थात् प्रमाण, नय, और निक्षेपके द्वारा पदार्थका ग्रहण अथवा निर्णय करना चाहिये ॥ ११ ॥

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अतएव नयका निरूपण करना आवश्यक है ।

अब आगे नामादि निक्षेपोंका कथन करते हैं । उनमेंसे, अन्य निमित्तोंकी अपेक्षा रहित किसीकी ' मंगल ' ऐसी संज्ञा करनेको नाममंगल कहते हैं । वहां निमित्त चार प्रकारका है— जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया । उन चार निमित्तोंमेंसे तद्भव और सादृश्य-लक्षणवाले सामान्यको जाति कहते है ।

१. नाम्नो वक्तुरभिप्रायो निमित्तं कथितं समम् । तस्मादन्यत्तु जात्यादि निमित्तान्तरमिष्यते ॥
त. श्लो. वा. १. ५.

२. मु. जं. दव्वम्मि ।

३. जातिद्वारेण शब्दो हि यो द्रव्यादिषु वर्तते । जातिहेतुः स विज्ञेयो गौरश्व इति शब्दवत् ॥
त. श्लो. वा. १, ५, ३.

४. मु. मोली ।

५. संयोगि-द्रव्य-शब्दः स्यात्कुंडलीत्यादिशब्दवत् । समवायि-द्रव्य-शब्दो विषाणीत्यादिरास्थितः ॥
त. श्लो. वा. १, ५, ९.

६. मु. समवायणिमित्तं ।

७. गुणप्राधान्यतो वृत्ते द्रव्ये गुणनिमित्तकः । शुक्लः पाटल इत्यादि-शब्दवत्संप्रतीयते ॥
त. श्लो. वा. १, ५, ६.

८. कर्म-प्राधान्यतस्तत्र कर्महेतुर्निरुच्यते । चरति प्लवते यद्वत्कश्चिदित्यतिनिश्चितम् ॥
त. श्लो. वा. १, ५, ७.

९. मु. अण्ण –

वच्चत्थ[1]-णिरवेक्खो मंगल-सद्दो णाम-मंगलं । तस्स मंगलस्स आधारो अट्ठ-विहो । तं जहा, जीवो वा, जीवा वा, अजीवो वा, अजीवा वा, जीवो[2] य अजीवो य,

विशेषार्थ— किसी एक द्रव्यकी त्रिकालवर्ती पर्यायोंमें रहनेवाले अन्वयको तद्भवसामान्य या ऊर्ध्वतासामान्य कहते हैं । जैसे मनुष्यकी बालक, युवा और वृद्ध अवस्थामें मनुष्यत्व-सामान्यका अन्वय पाया जाता है । तथा एक ही समयमें नाना व्यक्तिगत सदृश परिणामको सादृश्यसामान्य या तिर्यक्सामान्य कहते हैं । जैसे, रंग, आकार आदिसे भिन्न भिन्न प्रकारकी गायोंमें गोत्व-सामान्यका अन्वय पाया जाता है ।

द्रव्यके दो भेद हैं, संयोग-द्रव्य और समवाय-द्रव्य । उनमें, अलग अलग सत्ता रखनेवाले द्रव्योंके मेलसे जो पैदा हो उसे संयोग-द्रव्य कहते हैं । जो द्रव्य द्रव्यमें समवेत हो अर्थात् कथंचित् तादात्म्य रखता हो उसे समवाय-द्रव्य कहते हैं । जो पर्याय आदिककी अपेक्षा परस्पर विरुद्ध हो अथवा अविरुद्ध हो उसे गुण कहते हैं । परिस्पंद अर्थात् हलन-चलनरूप अवस्थाको क्रिया कहते हैं ।

उन चार प्रकारके निमित्तोंमेंसे, गौ, मनुष्य, घट, पट, स्तंभ, वेत इत्यादि जाति-निमित्तक नाम हैं, क्योंकि, गौ-मनुष्यादि संज्ञाएं, गौ-मनुष्यादि जातिमें उत्पन्न होनेसे प्रचलित हैं । दण्डी, छत्री, मौली इत्यादि संयोग-द्रव्य-निमित्तक नाम हैं । क्योंकि, दंडा, छतरी, मुकुट इत्यादि स्वतंत्र-सत्तावाले पदार्थ हैं, और उनके संयोगसे दंडी छत्री, मौली इत्यादि नाम व्यवहारमें आते हैं । गलगण्ड, काना, कुबड़ा इत्यादि समवाय-द्रव्यनिमित्तक नाम हैं, क्योंकि, जिसके लिये 'गलगण्ड' इस नामका उपयोग किया गया है उससे गलेका गण्ड भिन्नसत्तावाला नहीं है । इसी प्रकार काना, कुबड़ा आदि नाम समझ लेना चाहिये । कृष्ण, रुधिर इत्यादि गुण-निमित्तक नाम हैं, क्योंकि, कृष्ण आदि गुणोंके निमित्तसे उन गुणवाले द्रव्योंमें ये नाम व्यवहारमें आते हैं । गायक, नर्तक इत्यादि क्रिया-निमित्तक नाम हैं । क्योंकि, गाना, नाचना आदि क्रियाओंके निमित्तसे गायक, नर्तक आदि नाम व्यवहारमें आते हैं । इसतरह जाति आदि उन चार निमित्तोंको छोड़कर संज्ञाकी प्रवृत्तिमें अन्य कोई निमित्त नहीं है ।

वाच्यार्थ अर्थात् शब्दार्थकी अपेक्षा रहित 'मंगल' शब्द नाममंगल है । उस मंगलका आधार आठ प्रकारका है । जैसे, १ एक जीव, २ अनेक जीव, ३ एक अजीव, ४ अनेक अजीव, ५ एक जीव और एक अजीव, ६ अनेक जीव और एक अजीव, ७ एक जीव और अनेक अजीव, ८ अनेक जीव और अनेक अजीव ।

विशेषार्थ— मंगलके लिये आधार या आश्रय आठ प्रकारका होता है, जिसका खुलासा इसप्रकार समझना चाहिये— १ साक्षात् एक जिनेन्द्रदेवके आश्रयसे जो मंगल किया जाता है

१ अ-ब-वज्झत्थ । ' नामं पि होज्ज सन्ना तव्वच्चं वा तयत्थपरिसुन्नं ॥ वि. भा. ३४००

२ अ - अजीवो च जीवा च, अजीवा च जीवो च, अजीवा च जीवा चेति ।

जीवा य अजीवो य, जीवो य अजीवा य, जीवा य अजीवा य इदि[1]।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तत्थ ट्ठवण-मंगलं णाम आहिद-णामस्स अण्णस्स सोयमिदि ट्ठवणं ट्ठवणा णाम। सा दुविहा सब्भावासब्भाव-ट्ठवणा चेदि। तत्थ आगारवंतए वत्थुम्मि सब्भाव-ट्ठवणा। तव्विवरीया असब्भाव-ट्ठवणा।

उसे एकजीवाश्रित मंगल कहते हैं। यहां जिनेन्द्रदेवके स्थानपर एक जिन-यति भी लिया जा सकता है। २ अनेक यतियोंके आश्रयसे जो मंगल किया जाता है उसे अनेक जीवाश्रित मंगल कहते हैं। ३ एक जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाके आश्रयसे जो मंगल किया जाता है उसे एक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं। ४ अनेक जिन-प्रतिमाओंके आश्रयसे जो मंगल किया जाता है उसे अनेक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं। ५ एक जिनेन्द्रदेव और एक ही उनकी प्रतिमाके आश्रयसे एक ही समय जो मंगल किया जाता है उसे एक जीव और एक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं। ६ अनेक यति और एक जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाके आश्रयसे एक ही समय जो मंगल किया जाता है उसे अनेक जीव और एक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं। ७ एक जिनेन्द्रदेव और अनेक जिनप्रतिमाओंके आश्रयसे एक ही समय जो मंगल किया जाता है उसे एक जीव और अनेक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं। ८ अनेक यति और अनेक जिनप्रतिमाओंके आश्रयसे एक ही समय जो मंगल किया जाता है उसे अनेक जीव और अनेक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं।

उन नामादि मंगलोंमेंसे अब स्थापनामंगलको बतलाते हैं। किसी नामको धारण करनेवाले दूसरे पदार्थकी 'वह यह है' इसप्रकार स्थापना करनेको स्थापना कहते हैं। वह स्थापना दो प्रकारकी है, सद्भावस्थापना और असद्भावस्थापना। इन दोनोंमेंसे, जिस वस्तुकी स्थापना की जाती है उसके आकारको धारण करनेवाली वस्तुमें सद्भावस्थापना समझना चाहिये तथा जिस वस्तुकी स्थापना की जाती है उसके आकारसे रहित वस्तुमें असद्भाव-स्थापना जानना चाहिये।

लेखनीसे लिखकर अर्थात् चित्र बनाकर, और खनन अर्थात् छैनी, टांकी आदिके द्वारा, बन्धन अर्थात् चिनाई, लेप आदिके द्वारा तथा क्षेपण अर्थात् सांचे आदिमें ढलाई आदिके द्वारा मूर्ति बनाकर स्थापित किये गये, और जिसमें बुद्धिसे अनेक प्रकारके मंगलरूप अर्थके सूचक गुणसमूहोंकी कल्पना की गई है ऐसे मंगल-पर्यायसे परिणत जीवके रूपको अर्थात् तदाकार आकृतिको सद्भावस्थापना-मंगल कहते हैं।

---

१. 'किञ्चिद्धि प्रतीतमेकजीवनाम, यथा डित्थ इति। किञ्चिदनेकजीवनाम यथा यूथ इति। किञ्चिदेकाजीवनाम, यथा घट इति। किञ्चिदनेकाजीवनाम, यथा प्रासाद इति। किञ्चिदेकजीवैकाजीवनाम, यथा प्रतीहार इति। किञ्चिदेकजीवानेकाजीवनाम, यथा काहार इति। किञ्चिदेकाजीवानेक-जीवनाम, यथा मंदुरेति। किञ्चिदनेकजीवाजीवनाम, यथा नगरमिति'। त. श्लो. वा. १, ५. जीवस्स सो जिणस्स व अज्जीवस्स उ जिणिंदपडिमाए। जीवाण जईणं पि व अज्जीवाणं तु पडिमाणं॥ जीवस्साजीवस्स व जइणो बिंबस्स चेगओ समयं। जीवस्साजीवाण य जइणो पडिमाण चेगत्थं॥ जीवाणमजीवस्स य जईण बिंबस्स चेगओ समयं। जीवाणमजीवाण य जइणो पडिमाण चेगत्थं॥ वि. भा. ३४२४, ३४२५, ३४२६.

मंगल-पज्जय-परिणद-जीव-रूवं लिहण-खणण-बंधण-क्खेवणादिएण ठविदं बुद्धीए आरोविद-गुण-समूहं सब्भाव-ट्ठवणा-मंगलं[1]। बुद्धीए समारोविद-मंगल-पज्जय-परिणद-जीव-गुण-सरूवक्ख-वराडयादयो असब्भाव-ट्ठणा-मंगलं[2]।

दव्व-मंगलं णाम आगामि-पज्जाय-विसेसं पडुच्च गहियाहिमुहियं दव्वं अतब्भावं वा। तं दुविहं, आगम-णो-आगम-दव्वं चेदि। आगमो सिद्धंतो पवयणमिदि

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

नमस्कारादि करते हुए जीवके आकारसे रहित अक्ष अर्थात् शतरंजकी गोटोंमें वराडक अर्थात् कौड़ियोंमें तथा इसीप्रकारकी अन्य अतदाकार वस्तुओंमें मंगल-पर्यायसे परिणत जीवके गुण स्वरूपकी बुद्धिसे कल्पना करना असद्भाव स्थापना-मंगल है।

विशेषार्थ— जैसे शतरंज आदिके खेलमें राजा, मन्त्री आदिकी और खेलनेकी कौड़ी व पासोंमें संख्याकी आरोपणा होती है, उसीप्रकार मंगलपर्यायपरिणत जीव और उसके गुणोंकी बुद्धिके द्वारा की हुई स्थापनाको असद्भावस्थापनामंगल कहते हैं।

अब द्रव्यमंगलका कथन करते हैं। आगे होनेवाली मंगल पर्यायको ग्रहण करनेके सन्मुख हुए द्रव्यको (उस पर्यायकी अपेक्षा) द्रव्यमंगल कहते हैं। अथवा, वर्तमान पर्यायकी विवक्षासे रहित द्रव्यको ही द्रव्यमंगल कहते हैं। वह द्रव्यमंगल आगम और नो-आगमके भेदसे दो प्रकारका है।

आगम, सिद्धान्त और प्रवचन, ये शब्द एकार्थवाची हैं। आगमसे भिन्न पदार्थको नोआगम कहते हैं।

मंगल-प्राभृत अर्थात् मंगल विषयका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रको जाननेवाले, किंतु वर्तमानमें उसके उपयोगसे रहित जीवको आगम-द्रव्यमंगल कहते हैं। अथवा, मंगल विषयके प्रतिपादक शास्त्रकी शब्द रचनाको आगम-द्रव्यमंगल कहते हैं। अथवा मंगल विषयको प्रतिपादन करनेवाले उस मंगल प्राभृत शास्त्रके अर्थकी स्थापनारूप अक्षरोंकी रचनाको आगम-द्रव्यमंगल कहते हैं।

विशेषार्थ— आगे होनेवाली पर्यायके सन्मुख, अथवा वर्तमान पर्यायकी विवक्षासे रहित, अर्थात् भूत या भविष्यत् पर्यायकी विवक्षासे द्रव्यको द्रव्यमंगल कहा है, और तद्विषयक ज्ञानको आगम कहा है। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि जो मंगलविषयक शास्त्रका जानकार वर्तमान उसके उपयोगसे रहित हो वह आगमद्रव्यमंगल है। यहांपर जो मंगलविषयक

---

१ तत्राध्यारोप्यमानेन भावेन्द्रादिना समाना प्रतिमा तद्भावस्थापना, मुख्यदर्शिनः स्वयं तस्यास्तद्बुद्धिसंभवात् कथंचित्सादृश्यसद्भावात्। त. श्लो. वा. १, ५.

२ मुख्याकारशून्या वस्तुमात्रा पुनरसद्भावस्थापना परोपदेशादेव तत्र सोऽयमिति संप्रत्ययात्। त. श्लो. वा. १, ५.

एयट्ठो । आगमादो अण्णो णो-आगमो । तत्थ[1] आगमदो दव्व-मंगलं णाम, मंगल-पाहुड-जाणओ अणुवजुत्तो, मंगल-पाहुड-सद्द-रयणा-वा, तस्सत्थ[2]-ट्ठवणक्खर-रयणा वा । णो-आगमदो दव्व मंगलं तिविहं । जाणुग-सरीरं भवियं तव्वदिरित्तमिदि । जं तं जाणुग-सरीर[3]-णो-आगम-दव्व-मंगलं तं तिविहं, मंगल.पाहुडस्स-केवल-णाणादि-मंगल-पज्जायस्स वा आधारत्तणेण भविय-वट्टमाणादीद-सरीरमिदि । आहारस्साहेयो-वयारादो भवदु धरिद-मंगल-पज्जाय-परिणद-जीवसरीरस्स मंगल-ववएसो, ण

शास्त्रकी शब्दरचना अथवा मंगलशास्त्रके अर्थकी स्थापनारूप अक्षरोंकी रचनाको आगमद्रव्य-मंगल कहा है वह उपचारसे ही समझना चाहिये । क्योंकि, मंगलविषयक शास्त्र-ज्ञानमें मंगल-विषयक शास्त्रकी शब्द रचना और मंगलशास्त्रके अर्थकी स्थापनारूप अक्षरोंकी रचना ये मुख्य-रूपसे बाह्य निमित्त पड़ते हैं । वैसे तो सहकारी कारण शरीरादिक और भी होते हैं, परंतु वे मुख्य बाह्य निमित्त न होनेसे उनका ग्रहण नो-आगममें किया है । अथवा, मंगलविषयक शास्त्रज्ञानसे और दूसरे बाह्य निमित्तोंकी अपेक्षा इन दोनों बाह्य निमित्तोंकी विशेषता दिखानेके प्रयोजनसे इन दोनों बाह्य निमित्तोंका आगमद्रव्यमंगलमें ग्रहण कर लिया है ।

नो-आगमद्रव्यमंगल तीन प्रकारका है, ज्ञायकशरीर, भव्य या भावि और तद्व्यतिरिक्त । उनमें जो ज्ञायकशरीर नो-आगमद्रव्यमंगल है वह भी तीन प्रकारका समझना चाहिये । मंगल-विषयक शास्त्रका अथवा केवलज्ञानादिरूप मंगल-पर्यायका आधार होनेसे भाविशरीर, वर्तमान-शरीर और अतीतशरीर, इसप्रकार ज्ञायकशरीर नो-आगमद्रव्यमंगलके तीन भेद हो जाते हैं ।

शंका—— आधारभूत शरीरमें आधेयभूत आत्माका उपचार करके धारण की हुई मंगल-पर्यायसे परिणत जीवके शरीरको नो-आगमज्ञायकशरीरद्रव्यमंगल कहना तो उचित भी है, परंतु भावी और भूत शरीर को मंगल संज्ञा देना किसी प्रकार भी उचित नहीं है, क्योंकि, उनमें मंगलरूप पर्यायके अस्तित्वका अभाव है ?

समाधान—— ऐसा नहीं है, क्योंकि राज-पर्यायका आधार होनेसे अनागत और अतीत जीवमें भी जिसप्रकार राजारूप व्यवहारकी उपलब्धि होती है, उसीप्रकार मंगल पर्यायसे परिणत जीवका आधार होनेसे अतीत और अनागत शरीरमें भी मंगलरूप व्यवहार हो सकता है ।

१. आगमओऽणुवउत्तो मंगल-सद्दाणुवासिओ वत्ता । तन्नाण-लद्धि-चेहिओ वि नोवउत्तो त्ति तो दव्वं ॥ जद नाणमागमो तो कह दव्वं दव्वमागमो कह णु । आगम-कारणमाया देहो सद्दो यतो दव्वं ॥ मंगल-पयत्थ जाणय-देहो भवस्स वा सजीवो वि । नो-आगमओ दव्वं आगम-रहिओ त्ति जं भणिअं ॥ अहवा नो देसम्मि नो आगमओ तदेग-देसाओ । भूयस्स भाविणो वाऽऽगमस्स जं कारणं देहो ॥ जाणय-भव्व-सरीराइरित्तमिह दव्व-मंगलं होइ । जा मंगल्ला किरिया तं कुणमाणो अणुवउत्तो ॥ वि. भा. २९, ३०, ४४, ४५, ४६.

२. अ-तस्सद् ।

३. मु. सरीरं ।

अण्णेसि, तेसु ट्ठिद-मंगल-पज्जायाभावा ? ण, राय-पज्जायाहारत्तणेण अणागदादीद-जीवे वि राय-ववहारोवलंभा।

तत्थ अदीद-सरीरं तिविहं, चुदं चइदं चत्तमिदि। तत्थ चुदं णाम कयली-घादेण विणा पक्कं पि फलं व कम्मोदएण ज्झीयमाणायु-क्खय-पदिदं। चइदं णाम कयलीघादेण छिण्णायु-क्खय-पदिद-सरीरं। उत्तं च–

मार्गदर्शक:- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

विशेषार्थ— आगमके बाह्य सहकारी कारण होनेसे शरीरको नो-आगम कहा गया है। और उसमें अन्वय प्रत्ययकी उपलब्धि होनेसे उसे द्रव्य कहा गया है। ये दोनों बातें अतीत, वर्तमान और अनागत इन तीनों शरीरोंमें घटित होती हैं, इसलिये इनमें मंगलपनेका व्यवहार हो सकता है। इसका खुलासा इसप्रकार है—

औदारिक, वैक्रियक और आहारक शरीर मंगलविषयक शास्त्रके परिज्ञानमें बाह्य सहकारी कारण हैं, क्योंकि, इनके विना कोई शास्त्रका अभ्यास ही नहीं कर सकता है। अब इनमें अन्वय-प्रत्यय कैसे पाया जाता है इसका खुलासा करते हैं। जिस शरीरसे मैंने मंगल शास्त्रका अभ्यास किया था वही शरीर उक्त अभ्यासको पूरा करते समय भी विद्यमान है, इस प्रकार तो वर्तमान ज्ञायक शरीरमें अन्वयप्रत्यय पाया जाता है। मंगल शास्त्रज्ञानसे उपयुक्त मेरा जो शरीर था, तद्विषयक शास्त्रज्ञानसे रहित मेरे अब भी वही शरीर विद्यमान है, इसप्रकार अतीत ज्ञायक शरीरमें अन्वयप्रत्ययकी उपलब्धि होती है। मंगल शास्त्रज्ञानके उपयोगसे रहित मेरा जो शरीर है वही तद्विषयक तत्वज्ञानकी उपयोग-दशामें भी होगा, इसप्रकार अनागत ज्ञायकशरीरमें अन्वयप्रत्ययकी उपलब्धि बन जाती है। इसलिये वर्तमान शरीरकी तरह अतीत और अनागत शरीरमें भी मंगलरूप व्यवहार हो सकता है।

इनमेंसे अतीत शरीरके तीन भेद हैं, च्युत, च्यावित और त्यक्त।

कदलीघात-मरणके विना पके हुए फलके समान कर्मके उदयसे झड़नेवाले आयुकर्मके क्षयसे अपने आप पतित शरीरको च्युतशरीर कहते हैं।

विशेषार्थ— जैसे पका हुआ फल अपना समय पूरा हो जानेके कारण वृक्षमेंसे स्वयं गिर पड़ता है। वृक्षसे अलग होनेके लिये उसे और दूसरे बाह्य निमित्तोंकी अपेक्षा नहीं पड़ती है। उसीप्रकार आयु कर्मके पूरे हो जाने पर जो शरीर शस्त्रादिकके विना छूट जाता है, उसे च्युत शरीर कहते हैं।

कदलीघातके द्वारा छिन्न आयुके क्षय हो जानेसे छूटे हुए शरीरको च्यावितशरीर कहते हैं। कहा भी है—

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

विस[1]-वेयण-रत्तक्खय-भय-सत्थग्गहण-संकिलेसेहि[2] ।
आहारुस्सासाणं[3] णिरोहदो छिज्जदे आऊ ॥ १२ ॥ इदि ॥

चत्तसरीरं तिविहं, पायोवगमण-विहाणेण, इंगिणी-विहाणेण, भत्त-पच्चक्खाण-विहाणेण, चत्तमिदि । तत्रात्मपरोपकारनिरपेक्षं प्रायोपगमनम्[4] । आत्मोपकारसव्यपेक्षं

विषके खा लेनेसे, वेदनासे, रक्तका क्षय हो जानेसे, तीव्र भयसे, शस्त्राघातसे, संक्लेशकी अधिकतासे तथा आहार और श्वासोच्छ्वासके रुक जानेसे आयु क्षीण हो जाती है ॥ १२ ॥

विशेषार्थ— जैसे कदली (केला) के वृक्षका तलवार आदिके प्रहारसे एकदम विनाश हो जाता है, उसीप्रकार विष-भक्षणादि निमित्तोंसे भी जीवकी आयु एकदम उदीर्ण होकर छिन्न हो जाती है । इसे ही अकाल-मरण कहते हैं, और इसके द्वारा जो शरीर छूटता है उसे च्यावित शरीर कहते हैं ।

त्यक्तशरीर तीन प्रकारका है, प्रायोपगमन विधानसे छोड़ा गया, इंगिनी विधानसे छोड़ा गया और भक्तप्रत्याख्यान विधानसे छोड़ा गया । इसतरह त्यक्त शरीरके तीन भेद हो जाते हैं ।

अपने और परके उपकारकी अपेक्षा रहित समाधिमरणको प्रायोपगमन कहते हैं ।

विशेषार्थ— प्रायोपगमन समाधिमरणको धारण करनेवाला साधु संस्तरका ग्रहण करना, बाधाके निवारणके लिये हाथ पांवका हिलाना, एक क्षेत्रको छोड़कर दूसरे क्षेत्रमें जाना आदि क्रियाएं न तो स्वयं करता है और न दूसरेसे कराता है । जैसे काष्ठ सर्वथा निश्चल रहता है, उसीप्रकार वह साधु समाधिमें सर्वथा निश्चल रहता है । शास्त्रोंमें प्रायोपगमनके अनेक प्रकारके अर्थ मिलते हैं । जैसे, संघको छोड़कर अपने पैरोंद्वारा किसी योग्य देशका आश्रय करके जो समाधिमरण किया जाता है उसे पादोपगमन समाधिमरण कहते हैं । अथवा, प्राय अर्थात् संन्यासकी तरह उपवासके द्वारा जो समाधिमरण होता है उसे प्रायोपगमन समाधिमरण कहते हैं । अथवा, पादप अर्थात् वृक्षकी तरह निष्पन्दरूपसे रहकर, शरीरसे किसी भी प्रकारकी क्रिया न करते हुए जो समाधिमरण होता है उसे पादपोपगमन समाधिमरण कहते हैं । इन सब अर्थोका मुख्य अभिप्राय यही है कि इस विधानमें अपने व परके उपकार की अपेक्षा नहीं रहती है ।

---

१. गो. क. ५७. २. मु. संकिलिस्सेहि । ३. मु. आहारो ।

४. पायोवगमणमरणं, पादाभ्यामुपगमनं ढौकनं तेन प्रवर्तितं मरणं पादोपगमनमरणम् । अथवा 'पाउग्गगमणमरणं ' इति पाठः, भवान्तप्राप्तिः करणं प्रायोग्यं संहननं संस्थानं चेह प्रायोग्यशब्देनोच्यते । अस्य गमनं प्राप्तिः, तेन कारणभूतेन यन्निवर्त्यं मरणं तदुच्यते पाउग्गगमणमरणमिति । मूलारा. पृ. ११३. 'पाओवगमणं' पादपस्येवोपगमनमस्पन्दतयाऽवस्थानं पादपोपगमनम् । तदुक्त-पाओवगमणं भणियं सम-विसमे पायवो जहा पडितो । नवरं परप्पओगा कंपेज्ज जहा जलतरु व्व ॥ ५४४ अभिरा. कोष (पाओवगमण)

परोपकारनिरपेक्षं इंगिनीमरणम्[1]। आत्मपरोपकारसव्यपेक्षं भक्तप्रत्याख्यानमिति[2]। तत्र भक्तप्रत्याख्यानं त्रिविधं जघन्योत्कृष्टमध्यमभेदात्। जघन्यमन्तर्मुहूर्तप्रमाणम्[3]। उत्कृष्टभक्तप्रत्याख्यानं द्वादशवर्षप्रमाणम्[4]। मध्यममेतयोरन्तरालमिति।

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जिस संन्यासमें, अपने द्वारा किये गये उपकारकी अपेक्षा रहती है, किन्तु दूसरेके द्वारा किये गये वैयावृत्य आदि उपकारकी अपेक्षा सर्वथा नहीं रहती, उसे इंगिनीसमाधि कहते हैं।

विशेषार्थ-- इंगिनी शब्दका अर्थ इंगित (अभिप्राय) है। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि इस समाधिमरणको करनेवाला स्वतः किये हुए उपकारकी अपेक्षा रखता है। इस समाधिमरणमें साधु संघसे निकलकर किसी योग्य देशमें समभूमि अथवा शिलापट्ट देखकर उसके ऊपर स्वयं तृणका संस्तर तैयार करके समाधिकी प्रतिज्ञा करता है। इसमें उठना, बैठना, सोना, हाथ-पैरका पसारना, मल-मूत्रका विसर्जन करना आदि क्रियाएं क्षपक स्वयं करता है। किसी दूसरे साधुकी सहायता नहीं लेता है। इस तरह यावज्जीवन चार प्रकारके आहारके त्यागके साथ, स्वयं किये गये उपचार सहित समाधिमरणको इंगिनी-संन्यास कहते हैं।

जिस संन्यासमें अपने और दूसरेके द्वारा किये गये उपकारकी अपेक्षा रहती है उसे भक्तप्रत्याख्यानसंन्यास कहते हैं।

विशेषार्थ-- भक्त नाम भोजनका है, और प्रत्याख्यान त्यागको कहते हैं। इसका यह अभिप्राय है कि जिस संन्यासमें क्रम-क्रमसे आहारादिका त्याग करते हुए अपने और पराये उपकारकी अपेक्षा रखकर समाधिमरण किया जाता है, उसे भक्त-प्रत्याख्यान संन्यास कहते हैं।

इन तीनों प्रकारके समाधिमरणोंमेंसे भक्त-प्रत्याख्यानविधि जघन्य, मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे तीन प्रकारकी है। जघन्य भक्तप्रत्याख्यान विधिका प्रमाण अन्तर्मुहूर्तमात्र है, उत्कृष्ट भक्तप्रत्याख्यान विधिका प्रमाण बारह वर्ष है और मध्यम भक्तप्रत्याख्यान विधिका प्रमाण, जघन्य अन्तर्मुहूर्तसे लेकर बारह वर्षके भीतर है।

---

१. इंगिणीशब्देन, इंगितमात्मनोऽभिप्रायो भण्यते, स्वाभिप्रायेण स्थित्वा प्रवर्त्यमानं मरणं इंगिणीमरणम्। यत्पुनः स्ववैयावृत्तिसापेक्षमेव। मूलारा. पृ. १२४. अत्र नियमाच्चतुर्विधाहारविरतिः, परपरिकर्मविवर्जनञ्च भवति। स्वयं पुनरिङ्गितदेशाभ्यन्तरे उद्वर्त्तनादि चेष्टात्मकं परिकर्म यथासमाधि विदधाति। अभि. रा. कोष. (इंगिणी)

२. भज्यते देहस्थित्यर्थमिति भक्तमाहारः। तस्य प्रतिज्ञा प्रत्याख्यानं त्यागः। भक्तप्रतिज्ञा स्वपर-वैयावृत्त्यसापेक्षं मरणम्। मूलारा. पृ. ११३.

३. उक्कस्सएण भत्त-पइण्णा कालो जिणेहि णिद्दिट्ठो। कालं हि संपहुत्ते बारिस वरिसाणि पुण्णाणि॥ जोगेहि विचित्तेहि दु खवेदि संवच्छराणि चत्तारि। वियडिणी य जूहित्ता चत्तारि पुणो वि सोसेइ॥ आयंबिल-णिव्वियडीहि दोण्णि आयंबिलेण एक्कं च। अद्धं णादि बिगट्ठेहि तदो अद्धं विगट्ठेहि॥ मूलारा. २५७-२५९.

संजम-विणास-भएण उस्सास-णिरोहं[1] काऊण मुद-साहु-सरीरं कत्थ णिवददि ? ण कत्थ वि, तहा-मुद-देहस्स मंगलत्ताभावादो । मंगल-पाहुड-धारयस्स धरिद-महव्वयस्स चत्त-देहस्स अचत्त-देहस्स वा देहो कधममंगलं ? साहूणमजुत्तकारिस्स देहत्तादो अमंगलमिदि ण वोत्तुं जुत्तं, पुव्वं ति-रयणाहारत्तेण मंगलत्तमवगयस्स पच्छा भूद-पुव्व-णाएण मंगल-भावं पडि विरोहाभावादो । तदो मंगल-भावेण कत्थ वि णिवदेयव्वमेदेण सरीरेणेति । ण चइदम्हि पददि, चत्तस्स वि आहार-णिरोहेण पदिदस्स चइदत्तावत्तीदो । तो कर्म्हि एदं घेत्तव्वं ? कयली-घादेण मरण-कंखाए मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज जीवियासाए जीविय-मरणासाहि विणा वा पदिद-सरीरं चइदं । जीवियासाए मरणासाए जीविय-मरणासाहि विणा वा कयलीघादेण अचत्त-भावेण पदिद-सरीरं चुदं णाम ।

शंका--- संयमके विनाशके भयसे श्वासोच्छ्वासका निरोध करके मरे हुए साधुके शरीरका त्यक्तके तीन भेदोंमेंसे किस भेदमें अन्तर्भाव होता है ?

समाधान--- ऐसे शरीरका त्यक्तके किसी भी भेदमें अन्तर्भाव नहीं होता है, क्योंकि इस प्रकारसे मृत शरीरको मंगलपना प्राप्त नहीं हो सकता ।

शंका--- जो मंगल शास्त्रका धारक है अर्थात् ज्ञाता है, जिसने महाव्रतको धारण किया है, चाहे उस साधुने समाधिसे शरीर छोड़ा हो अथवा नहीं छोड़ा हो, परंतु उसके शरीरको अमंगलपना कैसे प्राप्त हो सकता है ? यदि कहा जावे कि साधुओंमें अयोग्य कार्य करनेवाले साधुका शरीर होनेसे वह अमंगल है, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, जो शरीर पहले रत्नत्रयका आधार होनेसे मंगलपनेको प्राप्त हो चुका है, उसमें पीछेसे भूतपूर्व न्यायकी अपेक्षा मंगलत्वके स्वीकार कर लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है । इसलिये मंगलपनेकी अपेक्षा संयमके विनाशके भयसे श्वासोच्छ्वासके निरोधसे छोडे हुए साधुके शरीरका त्यक्तके तीन भेदोंमेंसे किसी एक भेदमें समावेश होना चाहिये । इस शरीरका च्यावितमें तो अन्तर्भाव हो नहीं सकता है, क्योंकि, यदि इसका च्यावितमें अन्तर्भाव किया जावे, तो आहारके निरोधसे छूटे हुए त्यक्त शरीरका भी च्यावितमें ही अन्तर्भाव करना पड़ेगा ? तो ऐसे शरीरको किस भेदमें ग्रहण करना चाहिये ?

समाधान--- मरणकी आशासे या जीवनकी आशासे अथवा जीवन और मरण इन दोनोंकी आशाके विना ही कदलीघातसे छूटे हुए शरीरको च्यावित कहते हैं । जीवनकी आशासे, मरणकी आशासे अथवा जीवन और मरण इन दोनोंकी आशाके विना ही कदली-घात व

१. तो णाउ वित्तिच्छेयं ऊसासनिरोहमादिणि कयाइं । अणहीयासे तेहिं वेयणसाहूहि ओमम्मि ।। पडिघातो वा विज्जू गिरिभित्ती कोणयाइ वा हुज्जा । संबद्धहत्थपायादओ व्व वातेण होज्जाहि ।। एएहिं कारणेहिं पंडियमरण तु काउमसमत्थो । ऊसासगिद्धपट्ठं रज्जुग्गहणं च कुज्जाहि ।। व्यव. सू. ५४६-५४८.

जीविद-मरणासाहि विणा सरूवोवलद्धिणिमित्तं चत्त[1]-बज्झंतरंग-परिग्गहस्स कयली-घादेणियरेण वा पदिद-सरीरं चत्तदेहमिदि ।

भव्यनोआगमद्रव्यं भविष्यत्काले मङ्गलप्राभृतज्ञायको जीवः मङ्गलपर्यायं परिणंस्यतीति वा । तद्व्यतिरिक्तं द्विविधं कर्मनोकर्ममङ्गलभेदात् । तत्र कर्ममङ्गलं दर्शन-विशुद्ध्यादि-षोडशधा-प्रविभक्त–तीर्थंकर–नामकर्म–कारणैर्जीव–प्रदेश–निबद्ध-तीर्थंकर-नामकर्म माङ्गल्य-निबन्धनत्वान्मङ्गलम् यत्तन्नोकर्ममङ्गलं । तद् द्विविधम्, लौकिकं लोकोत्तरमिति । तत्र लौकिकं त्रिविधम्, सचित्तमचित्तं मिश्रमिति ।

समाधिमरणसे रहित होकर छूटे हुए शरीरको च्युत कहते हैं। आत्म-स्वरूपकी प्राप्तिके निमित्त, जिसने बहिरंग और अंतरंग परिग्रहका त्याग कर दिया है ऐसे साधुके जीवन और मरणकी आशाके विना ही कदलीघातसे अथवा इतर कारणोंसे छूटे हुए शरीरको त्यक्तशरीर कहते हैं ।

विशेषार्थ---- पूर्वमें बतलाये गये च्युत, च्यावित और त्यक्तके स्वरूपपर ध्यान देनेसे यह भली प्रकार विदित हो जाता है कि संयम-विनाशके भयसे श्वासोच्छ्वासका निरोध करके छूटे हुए साधुके शरीरका च्यावितमें ही अन्तर्भाव होता है, क्योंकि, च्यावित मरणमें कदलीघातकी प्रधानता है । और श्वासोच्छ्वासका स्वयं निरोध करके मरना कदलीघातमरण है । उसमें समाधिका सद्भाव नहीं रह सकता है, इसलिये ऐसे मरणका त्यक्तके किसी भी भेदमें ग्रहण नहीं किया जा सकता है । यद्यपि किसी त्यक्तमरणमें कदलीघात भी निमित्त पड़ता है । परंतु वहांपर कदलीघातसे, परकृत उपसर्गादि निमित्तोंका ही ग्रहण किया गया है, स्वकृत श्वासोच्छ्वासनिरोध आदि आत्मघातके साधन विवक्षित नहीं हैं ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जो जीव भविष्यकालमें मंगल-शास्त्रका जाननेवाला होगा, अथवा मंगलपर्यायसे परिणत होगा उसे भव्यनोआगमद्रव्यमंगलनिक्षेप कहते हैं ।

विशेषार्थ--- ज्ञायकशरीरके तीन भेद किये हैं । उसका एक भेद भावी भी है । परंतु उससे इस भावीको भिन्न समझना चाहिये, क्योंकि, ज्ञायकशरीरके भावी विकल्पमें ज्ञाताके आगे होनेवाले शरीरको ग्रहण किया है, और यहांपर भविष्यमें होनेवाला तद्विषयक शास्त्रका ज्ञाता ग्रहण किया है ।

कर्मतद्व्यतिरिक्तद्रव्यमंगल और नोकर्मतद्व्यतिरिक्तद्रव्यमंगलके भेदसे तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यमंगल दो प्रकारका है । उनमें दर्शनविशुद्धि आदि सोलह प्रकारके तीर्थंकर नामकर्मके कारणोंसे जीवके प्रदेशोंसे बंधे हुए तीर्थंकर नामकर्मको कर्मतद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यमंगल कहते हैं, क्योंकि, वह मंगलपनेका सहकारी कारण है ।

नोकर्मतद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यमंगल दो प्रकारका है । एक लौकिक नोकर्मतद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्यमंगल और दूसरा लोकोत्तर नोकर्मतद्व्यतिरिक्त-नोआगमद्रव्यमंगल ।

---

१. मु. णिमित्तं व चत्त– ।

तत्राचित्तमङ्गलम्---

सिद्धत्थ-पुण्ण-कुंभो वंदणमाला य मंगलं छत्तं ।
सेदो वण्णो आदंसणो य कण्णा य जच्चस्सो[1] ॥ १३ ॥

सचित्तमङ्गलम् । मिश्रमङ्गलं सालङ्कारकन्यादिः ।
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

उन दोनोंमेंसे लौकिकमंगल सचित्त, अचित्त और मिश्रके भेदसे तीन प्रकारका है। इनमें- 'सिद्धार्थ' अर्थात् श्वेत सरसों, जलसे भरा हुआ कलश, वंदनमाला, छत्र, श्वेत-वर्ण, और दर्पण आदि अचित्त मंगल हैं। और बालकन्या तथा उत्तम जातिका घोड़ा आदि सचित्त मंगल हैं ॥ १३ ॥

अलंकारसहित कन्या आदि मिश्र-मंगल समझना चाहिये। यहां पर अलंकार अचित्त और कन्या सचित्त होनेके कारण अलंकारसहित कन्याको मिश्रमंगल कहा है।

विशेषार्थ--- पंचास्तिकायकी टीकामें भी जयसेन आचार्यने इन पदार्थोंको मंगलरूप माननेमें भिन्न भिन्न कारण दिये हैं। वे इस प्रकार हैं, जिनेन्द्रदेवने व्रतादिकके द्वारा परमार्थको प्राप्त किया और उन्हें सिद्ध यह संज्ञा प्राप्त हुई, इसलिये लोकमें सिद्धार्थ अर्थात् श्वेत सरसों मंगलरूप माने गये। जिनेन्द्रदेव संपूर्ण मनोरथोंसे अथवा केवलज्ञानसे परिपूर्ण हैं, इसलिये पूर्ण-कलश मंगलरूपसे प्रसिद्ध हुआ। बाहर निकलते समय अथवा प्रवेश करते समय चौवीस ही तीर्थंकर वन्दना करने योग्य हैं, इसलिये भरत चक्रवर्तीने वन्दनमालाकी स्थापना की। अरहंत परमेष्ठी सभी जीवोंका कल्याण करनेवाले होनेसे जगके लिये छत्राकार हैं, अथवा सिद्धलोक भी छत्राकार है, इसलिये छत्र मंगलरूप माना गया है। ध्यान, शुक्ललेश्या इत्यादिको श्वेत-वर्णकी उपमा दी जाती है। इसलिये श्वेतवर्ण मंगलरूप माना गया है। जिनेन्द्रदेवके केवलज्ञानमें जिस प्रकार लोक और अलोक प्रतिभासित होता है, उसीप्रकार दर्पणमें भी अपना बिम्ब झलकता है; अतएव दर्पण मंगलरूप माना गया है। जिसप्रकार वीतराग सर्वज्ञदेव लोकमें मंगलस्वरूप हैं, उसी प्रकार बालकन्या भी रागभावसे रहित होनेके कारण लोकमें मंगल मानी गई है। जिसप्रकार जिनेन्द्रदेवने कर्म-शत्रुओं पर विजय पाई, उसी प्रकार उत्तम जातिके घोड़ेसे भी शत्रु जीते जाते हैं, अतएव उत्तम जातिका घोड़ा मंगलरूप माना गया है ॥ १३ ॥

---

१. वयणियमसंजमगुणेहि साहिदो जिणवरेहि परमट्ठो । सिद्धा सण्णा जेसिं सिद्धत्था मंगलं तेण ॥ पुण्णा मणोरहेहि य केवलणाणेण चावि संपुण्णा । अरहंता इदि लोए सुमंगलं पुण्णकुंभो दु ॥ णिग्गमणपवेसम्हि य इह चउवीसं पि वंदणिज्जा ते । वंदणमाले त्ति कया भरहेण य मंगलं तेण ॥ सव्वजणणिव्वुदियरा छत्तायारा जगस्स अरहंता । छत्तायारं सिद्धि त्ति मंगलं तेण छत्तं तं ॥ सेदो वण्णो ज्झाणं लेस्सा य अघाइसेसकम्मं च । अरुहाणं इदि लोए सुमंगलं सेदवण्णो दु ॥ दीसइ लोयालोओ केवलणाणे तहा जिणिदस्स । तह दीसइ मुकुरे बिंबु मंगलं तेण तं मुणह ॥ जह वीयरायसव्वण्हू जिणवरो मंगलं हवइ लोए । हयरायबालकण्णा तह मंगलमिदि वियाणाहि ॥ कम्मारिं जिणेविणु जिणवरेहि मोक्खु जिणाहि वि जेण । जच्चस्स उ अखिल जिणइ मंगलु वुच्चइ तेण ॥ पञ्चा. टीका.

लोकोत्तरमङ्गलमपि त्रिविधम् सचित्तमचित्तं मिश्रमिति। सचित्तमर्हदादीनामनाद्यनिधनजीवद्रव्यम्। न केवलज्ञानादिमङ्गलपर्यायविशिष्टार्हदादीनाम्, जीवद्रव्यस्यैव ग्रहणम्, तस्य वर्तमानपर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भाव इति भावनिक्षेपान्तर्भावात् न केवलज्ञानादिपर्यायाणां ग्रहणम्, तेषामपि भावरूपत्वात्। अचित्तमङ्गलं कृत्रिमाकृत्रिमचैत्यालयादिः, न तत्स्थप्रतिमाः, तासां[1] स्थापनान्तर्भावात्। अकृत्रिमाणां कथं स्थापनाव्यपदेशः? इति चेन्न, तत्रापि बुद्ध्या प्रतिनिधौ स्थापितमुख्योपलम्भात्। यथा अग्निरिव माणवकोऽग्निः। तथा स्थापनेव स्थापनेति तासां तद्व्यपदेशोपपत्तेर्वा। तदुभयमपि मिश्रमङ्गलम्।

लोकोत्तर मंगल भी सचित्त, अचित्त और मिश्रके भेदसे तीन प्रकारका है। अरहंत आदिका अनादि और अनन्तस्वरूप जीवद्रव्य सचित्त लोकोत्तर नो-आगमतद्व्यतिरिक्तद्रव्यमंगल है। यहांपर केवलज्ञानादि मंगल-पर्याययुक्त अरहंत आदिकका ग्रहण नहीं करना चाहिये, किन्तु उनके सामान्य जीवद्रव्यका ही ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि, वर्तमान-पर्यायसहित द्रव्यको भाव कहा है। इसलिये उसका भावनिक्षेपमें अन्तर्भाव होता है। इसलिये केवलज्ञानादि वर्तमान पर्यायकी अपेक्षा अरहंतके आत्माकी भावनिक्षेपमें परिगणना होगी। उसकी द्रव्यनिक्षेपमें गणना नहीं हो सकती है। उसी प्रकार केवलज्ञानादि पर्यायोंका भी इस लोकोत्तर नो-आगमद्रव्यमंगलमें ग्रहण नहीं होता है, क्योंकि, वे सब पर्याएं भावस्वरूप होनेके कारण उनका भी भावनिक्षेपमें ही अन्तर्भाव होगा।

कृत्रिम और अकृत्रिम चैत्यालयादि अचित्त लोकोत्तर नो-आगमतद्व्यतिरिक्तद्रव्य-मंगल हैं। उन चैत्यालयोंमें स्थित प्रतिमाओंका इस निक्षेपमें ग्रहण नहीं करना चाहिये, क्योंकि, उनका स्थापना निक्षेपमें अन्तर्भाव होता है।

शंका— अकृत्रिम प्रतिमाओंमें स्थापनाका व्यवहार कैसे संभव है?

समाधान— इसप्रकार शंका करना उचित नहीं है, क्योंकि, अकृत्रिम प्रतिमाओंमें भी बुद्धिद्वारा प्रतिनिधित्व मान लेने पर 'ये जिनेन्द्रदेव हैं' इस प्रकारके मुख्य व्यवहारकी उपलब्धि होती है। अथवा, अग्नितुल्य बालकको भी जिस प्रकार अग्नि कहा जाता है, उसी प्रकार कृत्रिम प्रतिमाओंमें की गई स्थापनाके समान यह भी स्थापना है, इसलिये अकृत्रिम जिन प्रतिमाओंमें स्थापनाका व्यवहार हो सकता है। उक्त दोनों प्रकारके सचित्त और अचित्त मंगलोंको मिश्र-मंगल कहते हैं।

गुणपरिणत आसनक्षेत्र, अर्थात् जहां पर योगासन, वीरासन इत्यादि अनेक आसनोंसे तदनुकूल अनेक प्रकारके योगाभ्यास, जितेन्द्रियता आदि गुण प्राप्त किये गये हों ऐसा क्षेत्र, परिनिष्क्रमणक्षेत्र, केवलज्ञानोत्पत्तिक्षेत्र और निर्वाणक्षेत्र आदिको क्षेत्रमंगल कहते हैं।

१. मु. तत्स्थप्रतिमास्तु।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तत्र क्षेत्रमङ्गलं[1] गुण-परिणतासन-परिनिष्क्रमण-केवलज्ञानोत्पत्ति-परिनिर्वाण-क्षेत्रादिः । तस्योदाहरणम्, ऊर्ज्जयन्त-चम्पा-पावा-नगरादिः । अर्धाष्टारत्न्यादि[2]-पंचविंशत्युत्तर-पंच-धनुः-शत-प्रमाण-शरीर-स्थित-कैवल्याद्यवष्टब्धाकाश-देशा वा, लोकमात्रात्म-प्रदेशैर्लोक-पूरणापूरित-विश्व-लोक-प्रदेशा वा ।

तत्थ काल-मंगलं णाम[3], जम्हि काले केवल-णाणादि-पज्जएहि परिणदो सो कालो[4] पाव-मल-गालणत्तादो मंगलं । तस्योदाहरणम्, परिनिष्क्रमण-केवलज्ञानोत्पत्ति-परिनिर्वाणदिवसादयः । जिन-महिमा[5]-सम्बद्ध-कालोऽपि मङ्गलम् । यथा नन्दीश्वर-दिवसादिः ।

तत्थ भाव-[6]मंगलं णाम, वर्तमानपर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भावः । स द्विविधः

आगे उदाहरण देकर इसका खुलासा किया जाता है—

ऊर्जयन्त (गिरनार-पर्वत) चम्पापुर और पावापुर नगर आदि क्षेत्रमंगल हैं । अथवा, साढ़े तीन हाथसे लेकर पांचसौ पच्चीस धनुष तकके शरीरमें स्थित और केवलज्ञानादिसे व्याप्त आकाश-प्रदेशोंको क्षेत्रमंगल कहते हैं । अथवा लोकप्रमाण आत्मप्रदेशोंसे लोक-पूरणसमुद्घातदशामें व्याप्त किये गये समस्त लोकके प्रदेशोंको क्षेत्रमंगल कहते हैं ।

जिस कालमें जीव केवलज्ञानादि अवस्थाओंको प्राप्त होता है उसे पापरूपी मलका गलानेवाला होनेके कारण कालमंगल कहते हैं । उदाहरणार्थ, दीक्षाकल्याणक, केवलज्ञानकी उत्पत्ति और निर्वाण-प्राप्तिके दिवस आदि कालमंगल समझना चाहिये । जिन-महिमासम्बन्धी कालको भी कालमंगल कहते हैं । जैसे, आष्टाह्निक पर्व आदि ।

वर्तमान पर्यायसे युक्त द्रव्यको भाव कहते हैं । वह आगमभावमंगल और नोआगम-भावमंगलके भेदसे दो प्रकारका है । आगम सिद्धान्तको कहते हैं, इसलिये जो मंगलविषयक शास्त्रका ज्ञाता होते हुए वर्तमानमें उसमें उपयुक्त है उसे आगमभावमंगल कहते हैं । नो-आगम-भावमंगल, उपयुक्त और तत्परिणतके भेदसे दो प्रकारका है । जो आगमके विना ही मंगलके अर्थमें उपयुक्त है उसे उपयुक्त नो-आगमभावमंगल कहते हैं और मंगलरूप पर्याय अर्थात्

---

१. गुणपरिणदासणं परिणिक्कमणं केवलस्स णाणस्स । उप्पत्ती इय पहुदी बहुभेयं खेत्तमंगलयं ॥ एदस्स उदाहरणं पावाणगरुज्जयंतचंपादी । आहुट्ठहत्थपहुदी पणुवीसब्भहियपणसयधणूणि ॥ देहअवट्ठिदकेवलणाणावट्ठद्धगयणदेसो वा । सेढीघणमेत्तअप्पपदेसगदलोयपूरणं पुण्णं ॥ विण्णासं लोयाणं होदि पदेसा वि मंगलं खेत्तं ॥ ति. प. १, २१-२४.

२. ' अर्धाष्ट ' इत्यत्र ' अर्धचतुर्थ ' इति पाठेन भाव्यम् ।

३. जस्सि काले केवलणाणादि मंगलं परिणमदि ॥ परिणिक्कमणं केवलणाणुब्भवणिव्वुदिपवेसादी । पावमलगालणादो पण्णत्तं कालमंगलं एदं ॥ एवं अणेयभेयं हवेदि तक्कालमंगलं पवरं । जिणमहिमासंबंधं णंदीसरदीवपहुदीओ ॥ ति. प. १, २४–२६. ४. मु. परिणदो कालो । ५. मु. महिम-

६. मंगलपज्जाएहिं उवलक्खियजीवदव्वमेत्तं च । भावं मंगलमेदं पढियउ सत्थादिमज्झयंतेसु ॥ ति. प. १, २७.

आगम-नोआगमभेदात् । आगमः सिद्धान्तः । आगमदो मंगल-पाहुड-जाणओ उवजुत्तो । णो-आगमदो भाव-मंगलं दुविहं-उपयुक्तस्तत्परिणत इति । आगममन्तरेण अर्थोपयुक्त उपयुक्तः । मङ्गलपर्यायपरिणतस्तत्परिणत इति ।

एदेसु णिक्खेवेसु केण णिक्खेवेण पयोजणं ? णो-आगमदो भाव-णिक्खेवेण तप्परिणएण पयोजणं । जदि णो-आगमदो भाव-णिक्खेवेण तप्परिणदेण पयोजण-मियरेहि णिक्खेवेहि इह किं पयोजणं ?

जत्थ बहुं जाणिज्जा अवरिमिदं तत्थ णिक्खिवे णियमा ।
जत्थ बहुवं ण जाणदि चउट्ठयं णिक्खिवे तत्थ[1] ॥ १४ ॥

इदि वयणादो णिक्खेवो कदो ।

अथ स्यात्, किमिति निक्षेपः क्रियत इति? उच्यते, त्रिविधाः श्रोतारः, अव्युत्पन्नः

जिनेन्द्रदेव आदिकी वन्दना, भावस्तुति आदिमें परिणत जीवको तत्परिणत नोआगमभावमंगल कहते हैं ।

शंका—इन निक्षेपोंमेंसे यहां (इस ग्रन्थावताररूप प्रकरणमें) किस निक्षेपसे प्रयोजन है ?

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

समाधान—यहांपर तत्परिणत नोआगमभावमंगलरूप निक्षेपसे प्रयोजन है ।

शंका—यदि यहां तत्परिणत नोआगमभावमंगलरूप निक्षेपसे प्रयोजन है, तो अन्य निक्षेपोंके कथन करनेसे यहां क्या प्रयोजन है ? अर्थात् प्रयोजनके विना उनका यहां कथन नहीं करना चाहिये था ।

समाधान—जहां जीवादि पदार्थोंके विषयमें बहुत जाने, वहांपर नियमसे सभी निक्षेपोंके द्वारा उन पदार्थोंका विचार करना चाहिये । और जहांपर बहुत न जाने, तो वहांपर चार निक्षेप अवश्य करना चाहिये । अर्थात् चार निक्षेपोंके द्वारा उस वस्तुका विचार अवश्य करना चाहिये ॥ १४ ॥

इस वचनके अनुसार यहांपर निक्षेपोंका कथन किया गया ।

पूर्वोक्त कथनके मान लेने पर भी, किस प्रयोजनको लेकर निक्षेपोंका कथन किया जाता है, इस प्रकारकी शंका करने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि श्रोता तीन प्रकारके होते हैं, पहला अव्युत्पन्न अर्थात् वस्तु-स्वरूपसे अनभिज्ञ, दूसरा संपूर्ण विवक्षित पदार्थको जाननेवाला, और तीसरा एकदेश विवक्षित पदार्थको जाननेवाला । इनमेंसे पहला श्रोता अव्युत्पन्न होनेके कारण विवक्षित पदके अर्थको कुछ भी नहीं समझता है । दूसरा ' यहां पर इस पदका कौनसा अर्थ अधिकृत है ' इस प्रकार विवक्षित पदके अर्थमें संदेह करता है, अथवा, प्रकरणप्राप्त अर्थको

---

१. जत्थ य जं जाणेज्जा निक्खेवं निक्खिवे निरवसेसं । जत्थ वि अ न जाणेज्जा चउक्कगं निक्खिवे तत्थ ॥ अनु. द्वा. १, ६.

अवगताशेषविवक्षितपदार्थः एकदेशतोऽवगतविवक्षितपदार्थ इति । तत्र प्रथमोऽव्युत्पन्नत्वान्नाध्यवस्यतीति । विवक्षितपदस्यार्थं द्वितीयः संशेते कोऽर्थोऽस्य पदस्याधिकृत इति, प्रकृतार्थादन्यमर्थमादाय विपर्यस्यति वा । द्वितीयवत्तृतीयोऽपि संशेते विपर्यस्यति वा । तत्र यद्यव्युत्पन्नः पर्यायार्थिको भवेन्निक्षेपः क्रियते अव्युत्पन्नव्युत्पादनमुखेन अप्रकृतनिराकरणाय[1] । अथ द्रव्यार्थिकः तद्द्वारेण प्रकृतप्ररूपणायाशेषनिक्षेपाः उच्यन्ते, व्यतिरेकधर्मनिर्णयमन्तरेण विधिनिर्णयानुपपत्तेः । द्वितीयतृतीययोः संशयितयोः संशयविनाशायाशेषनिक्षेपकथनम् । तयोरेव विपर्यस्तयोः[2] प्रकृतार्थावधारणार्थं निक्षेपः क्रियते । उत्तं च—

अवगय-णिवारणट्ठं पयदस्स परूवणा-णिमित्तं च ।
संसय-विणासणट्ठं तच्चत्थवधारणट्ठं च ॥ १५ ॥

छोड़ कर और दूसरे अर्थको ग्रहण करके विपरीत समझता है । दूसरी जातिके श्रोताके समान तीसरी जातिका श्रोता भी प्रकृत पदके अर्थमें या तो संदेह करता है अथवा, विपरीत निश्चय कर लेता है ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इनमेंसे यदि अव्युत्पन्न श्रोता पर्यायका अर्थी अर्थात् पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा वस्तुकी किसी विवक्षित पर्यायको जानना चाहता है, तो उस अव्युत्पन्न श्रोताको प्रकृत विषयकी व्युत्पत्तिके द्वारा अप्रकृत विषयके निराकरण करनेके लिये निक्षेपका कथन करना चाहिये । यदि वह अव्युत्पन्न श्रोता द्रव्यार्थिक है, अर्थात्, सामान्यरूपसे किसी वस्तुका स्वरूप जानना चाहता है, तो भी निक्षेपोंके द्वारा प्रकृत पदार्थके प्ररूपण करनेके लिये संपूर्ण निक्षेप कहे जाते हैं, क्योंकि, व्यतिरेक धर्मके निर्णयके विना विधिका निर्णय नहीं हो सकता है । दूसरी और तीसरी जातिके श्रोताओंको यदि संदेह हो, तो उनके संदेहको दूर करनेके लिये संपूर्ण निक्षेपोंका कथन किया जाता है । और यदि उन्हें विपरीत ज्ञान हो गया हो, तो प्रकृत अर्थात् विवक्षित वस्तुके निर्णयके लिये संपूर्ण निक्षेपोंका कथन किया जाता है । कहा भी है—

अप्रकृत विषयके निवारण करनेके लिये, प्रकृत विषयके प्ररूपण करनेके लिये, संशयका विनाश करनेके लिये, और तत्त्वार्थका निश्चय करनेके लिये निक्षेपोंका कथन करना चाहिये।१५।

अथवा सम्भव है कि निक्षेपोंको छोड़कर वर्णन किया गया सिद्धान्त वक्ता और श्रोता दोनोंको कुमार्गमें ले जावे, इसलिये भी निक्षेपोंका कथन करना चाहिये ।

अब मंगलके एकार्थ-वाचक नाम कहते हैं, मंगल, पुण्य, पूत, पवित्र, प्रशस्त, शिव,

---

१. ननु निक्षेपाभावेऽपि प्रमाणनयैरधिगम्यत एव तत्त्वार्थ इति चेन्न, अप्रकृतनिराकरणार्थत्वात्, प्रकृतप्ररूपणार्थत्वाच्च निक्षेपस्य । न खलु नामादावप्रकृते प्रमाणनयाधिगतो भावो व्यवहारायालं, मुख्योपचारविभागेनैव तत्सिद्धेः । न च तद्विभागो नामादिनिक्षेपैर्विना संभवति, येन तदभावेऽपि तत्त्वार्थाधिगतिः स्यात् । लघीय. पृ. ९९.

२. मु. विपर्यस्यतोः ।

निक्षेपविसृष्टः सिद्धान्तो वर्ण्यमानो वक्तुः श्रोतुश्चोत्पथोत्थानं कुर्यादिति वा ।

मङ्गलस्यैकार्थ उच्यते, मङ्गलं पुण्यं पूतं पवित्रं प्रशस्तं शिवं शुभं कल्याणं भद्रं सौख्यमित्येवमादीनि मङ्गलपर्यायवचनानि[1] । एकार्थप्ररूपणं किमर्थमिति[2] चेत् ? यतो मङ्गलार्थोऽनेकशब्दाभिधेयस्ततोऽनेकेषु शास्त्रेष्वनेकाभिधानैर्मङ्गलार्थः[3] प्रयुक्तश्चिरंतनाचार्यैः, सोऽव्यामोहेन शिष्यैः सुखेनावगम्यत इत्यैकार्थ उच्यते । ‘ यद्येकशब्देन न जानाति ततोऽन्येनापि शब्देन ज्ञापयितव्यः ’ इति वचनाद्वा ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

मङ्गलस्य निरुक्तिरुच्यते मलं गालयति विनाशयति घातयति दहति[4] हन्ति विशोधयति विध्वंसयतीति मङ्गलम्[5] । तन्मलं द्विविधं द्रव्यभावमलभेदात्[6] । द्रव्यमलं द्विविधम्[7]–बाह्यमभ्यंतरं[8] च । तत्र स्वेदरजोमलादि बाह्यम् । [9]घन-कठिन-जीव-

शुभ, कल्याण, भद्र और सौख्य इत्यादि मंगलके पर्यायवाची नाम हैं ।

शंका— यहांपर मंगलके एकार्थ-वाचक अनेक नामोंका प्ररूपण किसलिये किया गया है ?

समाधान—क्योंकि, मंगलरूप अर्थ अनेक शब्दोंका वाच्य है, अर्थात् अनेक पर्यायवाची नामोंके द्वारा मंगलरूप अर्थका प्रतिपादन किया जाता है। इसलिये प्राचीन आचार्योंने अनेक शास्त्रोंमें अनेक अर्थात् भिन्न भिन्न शब्दोंके द्वारा मंगलरूप अर्थका कथन किया है। उसका मतिभ्रमके विना शिष्योंको सरलतापूर्वक ज्ञान हो जावे, इसलिये यहांपर मंगलके एकार्थ-वाची नाम कहे हैं।

अथवा, ‘ यदि शिष्य एक शब्दसे प्रकृत विषयको नहीं समझ पावे, तो दूसरे शब्दोंके द्वारा उसे ज्ञान करा देना चाहिये ’ इस वचनके अनुसार भी यहांपर मंगलरूप अर्थके पर्यायवाची अनेक नाम कहे गये हैं।

अब मंगलकी निरुक्ति (व्युत्पत्ति-जन्य अर्थ) कहते हैं। जो मलका गालन करे, विनाश करे, घात करे, दहन करे, नाश करे, शोधन करे, विध्वंस करे, उसे मंगल कहते हैं। द्रव्यमल और भावमलके भेदसे वह मल दो प्रकारका है। द्रव्यमल भी दो प्रकारका है, बाह्य-

१. पुण्णं पूदपवित्ता पसत्थसिवभद्दखेमकल्लाणा। सुहसोक्खादी सव्वे णिद्दिट्ठा मंगलस्स पज्जाया ॥ ति. प. १, ८.

२. मु. किमिति ।　३. मु. शास्त्रेषु नैकाभिधानैः मङ्गलार्थः ।　४. मु. विनाशयति दहति ।

५. गालयदि विणासयदे धादेदि दहेदि हंति सोधयदे। विद्धंसेदि मलाइं जम्हा तम्हा य मंगलं भणिदं ॥ ति. प. १, ९.

६. दोण्णि वियप्पा होंति हु मलस्स इमं दव्वभावभेएहिं । ति. प. १, १०.

७. दव्वमलं दुविहप्पं बाहिरमब्भंतरं चेय। सेदमलरेणुकद्दमपहुदी बाहिरमलं समुद्दिट्ठं।

८. मु. माभ्यन्तरं ।　ति. प. १, १०–११.

९. पुणु दिट्ठजीवपदेसे णिबंधरूवाइ पयडिठिदिआई। अणुभागपदेसाइं चउहिं पत्तेक्कभेज्जमाणं तु॥

प्रदेश-निबद्ध-प्रकृति-स्थित्यनुभाग-प्रदेश-विभक्त-ज्ञानावरणाद्यष्टविध-कर्माभ्यन्तर-द्रव्यमलम् । अज्ञानादर्शनादिपरिणामो भावमलम्[1] ।

अथवा अर्थाभिधानप्रत्ययभेदात्त्रिविधं मलम् । उक्तमर्थमलम् । अभिधानमलं तद्वाचकः शब्दः । तयोरुत्पन्नबुद्धिः प्रत्ययमलम् । अथवा चतुर्विधं मलं नामस्थापना-द्रव्यभावमलभेदात् । अनेकविधं वा[2] । तन्मलं गालयति विनाशयति विध्वंसयतीति मङ्गलम्[3] । अथवा मङ्गं सुखं, तल्लाति आदत्त इति वा मङ्गलम्[4] । उक्तं च–

मङ्गशब्दोऽयमुद्दिष्टः[5] पुण्यार्थस्याभिधायकः ।
तल्लातीत्युच्यते सद्भिर्मङ्गलं मङ्गलार्थिभिः ॥ १६ ॥

....

द्रव्यमल और अभ्यन्तर-द्रव्यमल । इनमेंसे, पसीना, धूलि और मल आदि बाह्य-द्रव्यमल हैं । सान्द्र और कठिनरूपसे जीवके प्रदेशोंसे बंधे हुए, प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, और प्रदेश इन भेदोंमें विभक्त ऐसे ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके कर्म अभ्यन्तर द्रव्यमल हैं । अज्ञान और अदर्शन आदि परिणामोंको भावमल कहते हैं ।

अथवा, अर्थ, अभिधान (शब्द) और प्रत्यय (ज्ञान) के भेदसे मल तीन प्रकारका है । अर्थमलको तो अभी पहले कह आये हैं, अर्थात् जो पहले बाह्य द्रव्यमल, अभ्यन्तर द्रव्यमल और भावमल कहा गया है उसे ही अर्थमल समझना चाहिये । मलके वाचक शब्दोंको अभिधान मल कहते हैं । तथा अर्थमल और अभिधानमलमें उत्पन्न हुई बुद्धिको प्रत्ययमल कहते हैं ।

अथवा, नाममल, स्थापनामल, द्रव्यमल और भावमलके भेदसे मल चार प्रकारका है । अथवा, इसी प्रकार विवक्षाभेदसे मल अनेक प्रकारका है । उस मलका जो गालन करे, विनाश करे व ध्वंस करे उसे मंगल कहते हैं ।

अथवा, मंग शब्द सुखवाची है उसे जो लावे, प्राप्त करे उसे मंगल कहते हैं । कहा भी है—

यह मंग शब्द पुण्यरूप अर्थका प्रतिपादन करनेवाला माना गया है । उस पुण्यको जो लाता है उसे मंगलके इच्छुक सत्पुरुष मंगल कहते हैं ॥ १६ ॥

....

णाणावरणप्पहुदी अट्ठविहं कम्ममखिलपावरयं । अब्भंतरदव्वमलं जीवपदेसे णिबद्धमिदि हेदो ।
ति. प. १, ११–१२.

१. भावमलं णादव्वं अण्णाणादंसणादिपरिणामो ॥ ति. प. १, १३.

२. अहवा बहुभेयगयं णाणावरणादि दव्वभावमलभेदा । ति. प. १, १४.

३. ताइं गालेदि पुढं जदो तदो मंगलं भणिदं ॥ ति. प. १, १४.

४. अहवा मंगं सोक्खं लादि हु गेण्हेदि मंगलं तम्हा । एदाण कज्जसिद्धिं मंगलगत्थेदि गंथकत्तारो ॥
ति. प. १, १४, १५.

५. पुव्वं आइरिएहिं मंगलपुव्वं च वाचिदं भणिदं । तं लादि हु आदत्ते जदो तदो मंगलप्पवरं ॥
ति. प. १, १६.

पापं[1] मलमिति प्रोक्तमुपचारसमाश्रयात् ।
तद्धि गालयतीत्युक्तं मङ्गलं पण्डितैर्जनैः ॥ १७ ॥
किं कस्स केण कत्थ व केवचिरं कदिविधो य भावो त्ति ।
छहि अणिओग-द्दारेहि सव्व-भावाणुगंतव्वा[3] ॥ १८ ॥

अथवा मङ्गति गच्छति कर्ता कार्यसिद्धिमनेनास्मिन् वेति मङ्गलम् । मङ्गल-शब्दस्यार्थविषयनिश्चयोत्पादनार्थं निरुक्तिरुक्ता । मङ्गलस्यानुयोग[2] उच्यते–

किं मङ्गलम् ? जीवो मङ्गलम् । न सर्वजीवानां मङ्गलत्वप्राप्तिः[4] द्रव्यार्थिक-नयापेक्षया मङ्गलपर्यायपरिणतजीवस्य पर्यायार्थिकनयापेक्षया केवलज्ञानादिपर्यायाणां

उपचारसे पापको भी मल कहा है । इसलिये जो उसका गालन अर्थात् नाश करता है उसे भी पण्डितजन मंगल कहते हैं ॥ १७ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अथवा कर्ता, अर्थात् किसी उद्दिष्ट कार्यको करनेवाला, जिसके द्वारा या जिसके किये जाने पर कार्यकी सिद्धिको प्राप्त होता है उसे भी मंगल कहते हैं । इस तरह मंगल शब्दके अर्थ-विषयक निश्चयके उत्पन्न करनेके लिये मंगल शब्दकी निरुक्ति कही गई है ।

अब मंगलका अनुयोग कहते हैं, अर्थात् अनुयोगद्वारा मंगलका निरूपण करते हैं ।

विशेषार्थ— जिनेन्द्रकथित आगमका पूर्वापार संदर्भ मिलाते हुए अनुकूल व्याख्यान करनेको अनुयोग कहते हैं । अथवा, सूत्रका उसके वाच्यरूप विषयके साथ संबन्ध जोडनेको अनुयोग कहते हैं । अथवा, एक ही आगम–कथित–सूत्रके अनन्त अर्थ होते हैं, इसलिये सूत्रकी 'अणु' संज्ञा है । उस सूक्ष्मरूप सूत्रका अर्थरूप विस्तारके साथ संबन्धके प्रतिपादन करनेको अनुयोग कहते हैं ।

पदार्थ क्या है, किसका है, किसके द्वारा होता है, कहां पर होता है, कितने समय तक रहता है, कितने प्रकारका है, इस प्रकार इन छह अनुयोग-द्वारोंसे संपूर्ण पदार्थोंका ज्ञान करना चाहिये ॥ १८ ॥ इस वचनसे अनुयोगद्वारा मंगलका निरूपण किया जाता है ।

---

१. पावं मलं ति भण्णदि उवचारसरूवएण जीवाणं । तं गालेदि विणासं णेदि त्ति भणंति मंगलं केई ॥ ति. प. १, १७

२. अणुओयणमणुओगो सुयस्स नियएण जमभिधेएणं । वावारो वा जोगो जो अणुरूवोऽणुकूलो वा ॥ अहवा जमत्थओ थोवपच्छभावेहिं सुयमणुं तस्स । अभिधेए वावारो जोगो तेणं व संबंधो ॥ वि. भा. १३९३, १३९४.

३. मूलाचा. ७०५. दुविहा परूवणा, छप्पया य नवहा य छप्पया इणमो । किं कस्स केण व कहिं केवचिरं कइविहो य भवे ॥ आ. नि. ८६४. तानीमानि षडनुयोगद्वाराणि, निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरण-स्थितिविधानतः । त. सू. १, ७. तत्र किमित्यनुयोगे वस्तुस्वरूपकथनं निर्देशः । कस्येत्यनुयोगे स्वस्येत्याधिपत्य-कथनं स्वामित्वम् । केनेति प्रश्ने कारणनिरूपणं साधनम् । कस्मिन्नित्यनुयोगे आधारप्रतिपादनमधिकरणम् । कियच्चिरमिति प्रश्ने कालप्ररूपणं स्थितिः । कतिविध इत्यनुयोगे प्रकारकथनं विधानम् । लघीय पृ. ९५.

४. मु. मङ्गलप्राप्तिः ।

च मङ्गलत्वाभ्युपगमात् ।

कस्य मङ्गलम्? जीवस्य द्रव्यार्थिकनयार्पणया नित्यतामादधानस्य पर्यायार्थिकनयार्पणयोत्पादविगमात्मकस्य। देवदत्तात्कम्बलस्येव न जीवान्मङ्गलपर्यायस्य भेदः, सुवर्णस्याङ्गुलीयकमित्यत्राभेदेऽपि षष्ठ्युपलम्भतोऽनेकान्तात् ।

केन मङ्गलम् ? औदयिकादिभावैः ।

क्व मङ्गलम् ? जीवे। कुण्डाद्बदराणामिव न जीवान्मङ्गलपर्यायस्य भेदः, सारे स्तम्भ इत्यत्राभेदेऽपि सप्तम्युपलम्भतोऽनेकान्तात् ।

मंगल क्या है ? जीव मंगल है । किन्तु जीव को मंगल कहनेसे सभी जीव मंगलरूप नहीं हो जावेंगे, क्योंकि, द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा मंगलपर्यायसे परिणत जीवको और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा केवलज्ञानादि पर्यायोंको मंगल माना है ।

मंगल किसके होता है ? द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा नित्यताको धारण करनेवाले अर्थात् सदाकाल एक-स्वरूप रहनेवाले और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा उत्पाद और व्ययस्वरूप जीवके मंगल होता है । यहां पर जिस प्रकार (कम्बल देवदत्तका होते हुए भी) देवदत्तसे कम्बलका भेद है, उसप्रकार जीवका मंगलरूप पर्यायसे भेद नहीं है । क्योंकि, ' यह अंगूठी स्वर्णकी है ' यहां पर अभेदमें, अर्थात् अंगूठीरूप पर्याय स्वर्णसे अभिन्न होने पर भी जिस प्रकार षष्ठी विभक्ति देखी जाती है, उसी प्रकार ' जीवस्य मंगलम् ' यहां पर भी अभेदमें षष्ठी विभक्ति समझना चाहिये । इस तरह संबन्धकारकमें अनेकान्त समझना चाहिये । अर्थात् कहीं पर दो पदार्थोंमें भेद होने पर भी संबन्धकी विवक्षासे षष्ठी कारक होता है और कहीं पर अभेद होने पर भी षष्ठी कारकका प्रयोग होता है ।

किस कारणसे मंगल उत्पन्न होता है ? जीवके औदयिक, औपशमिक आदि भावोंसे मंगल उत्पन्न होता है ।

विशेषार्थ—– यद्यपि कर्मोंके उपशम, क्षय और क्षयोपशमसे सम्यग्दर्शनादिकी उत्पत्ति होती है, इसलिये उनसे मंगलकी उत्पत्ति मानना तो ठीक है । परंतु औदयिक भावसे मंगलकी उत्पत्ति नहीं बन सकती है, इसलिये यहां पर ' औदयिक आदि भावोंसे मंगल उत्पन्न होता है ' यह कहना किस प्रकार संभव है ? इसका समाधान इस प्रकार समझना चाहिये कि यद्यपि सभी औदयिक भाव मंगलकी उत्पत्तिमें कारण नहीं हैं, फिर भी पूजा-भक्ति तथा अणुव्रत-महाव्रत आदि प्रशस्त रागरूप औदयिक भाव मंगलका कारण है । इसलिये उसकी अपेक्षासे औदयिक भावको भी मंगलकी उत्पत्तिके कारणोंमें ग्रहण किया है ।

मंगल किसमें उत्पन्न होता है ? जीवमें मंगल उत्पन्न होता है । जिस प्रकार कूंड़ेसे उसमें रक्खे हुए बेरोंका भेद है, उस प्रकार जीवसे मंगलपर्यायका भेद नहीं समझना चाहिये, क्योंकि, ' सारे स्तंभः ' अर्थात् वृक्षके सारमें स्तंभ है । यहां पर जिसतरह अभेदमें भी सप्तमी विभक्तिकी

कियच्चिरं मङ्गलम् ? नानाजीवापेक्षया सर्वाद्धा[1] । एकजीवापेक्षया अनाद्यपर्यवसितं साद्यपर्यवसितं सादिसपर्यवसितमिति त्रिविधम् । कथमनाद्यपर्यवसितता मङ्गलस्य ? द्रव्यार्थिकनयार्पणया । तथा च मिथ्यादृष्ट्यवस्थायामपि मङ्गलत्वं जीवस्य प्राप्नोतीति चेन्नैष दोषः, इष्टत्वात् । न मिथ्याविरतिप्रमादानां मङ्गलत्वं, तेषां जीवत्वाभावात् । जीवो हि मङ्गलम् स च केवलज्ञानाद्यनन्तधर्मात्मकः । नावृतावस्थायां मङ्गलीभूतकेवलज्ञानाद्यभावः, आव्रियमाणकेवलाद्यभावे तदावरणानुपपत्तेः, जीवलक्षणयोर्ज्ञानदर्शनयोरभावे लक्ष्यस्याप्यभावापत्तेश्च । न चैवं तथाऽनुपलम्भात् ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

उपलब्धि होती है, उसी प्रकार 'जीवे मंगलम्' यहां पर भी अभेदमें सप्तमी विभक्ति समझना चाहिये । इस तरह यह सिद्ध हुआ कि अधिकरण कारकके प्रयोगमें भी अनेकान्त है । अर्थात् कहीं भेदमें भी अधिकरण कारक होता है और कहीं अभेदमें भी अधिकरण कारक होता है ।

कबतक मंगल रहता है ? नाना जीवोंकी अपेक्षा सर्वदा मंगल रहता है और एक जीवकी अपेक्षा अनादि-अनन्त, सादि-अनन्त, और सादि-सान्त इस प्रकार मंगलके तीन भेद हो जाते हैं ।

शंका— मंगलमें एक जीवकी अपेक्षा अनादि-अनन्तपना कैसे बनता है, अर्थात् एक जीवके अनादि कालसे अनन्तकाल तक मंगल होता है यह कैसे संभव है ?

समाधान— द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानतासे मंगलमें अनादि-अनंतपना बन जाता है । अर्थात् द्रव्यार्थिक नयकी मुख्यतासे जीव अनादिकालसे अनन्तकाल तक सर्वथा एक स्वभाव अवस्थित है, अतएव मंगलमें भी अनादि-अनन्तपना बन जाता है ।

शंका— इस तरह तो मिथ्यादृष्टि अवस्थामें भी जीवको मंगलपनेकी प्राप्ति हो जायगी ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि यह इष्ट है । किंतु इससे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद आदिको मंगलपना नहीं प्राप्त हो सकता है, क्योंकि, उनमें जीवत्व नहीं पाया जाता है । मंगल तो जीव ही है, और वह जीव केवलज्ञानादि अनन्त-धर्मात्मक है ।

आवृत अवस्थामें अर्थात् केवलज्ञानावरण आदि कर्मबन्धनकी दशामें मंगलीभूत केवलज्ञानादिका अभाव है, अर्थात् उस अवस्थामें ये सर्वथा नहीं पाये जाते, यदि कोई ऐसा प्रश्न करे, तो ऐसा प्रश्न करना ठीक नहीं है, क्योंकि आव्रियमाण अर्थात् जो कर्मोंके द्वारा आवृत होते हैं ऐसे केवलज्ञानादिके अभावमें केवलज्ञानादिको आवरण करनेवाले कर्मोंका सद्भाव सिद्ध नहीं हो सकेगा । दूसरे, जीवके लक्षणरूप ज्ञान और दर्शनके अभाव मानने पर लक्ष्यरूप जीवके अभावकी भी आपत्ति आ जाती है । लेकिन ऐसा नहीं है, क्योंकि, प्रत्यक्षादि

---

१. मु. सर्वोद्धम् ।

न भस्मच्छन्नाग्निना व्यभिचारः, तापप्रकाशयोस्तत्राप्युपलम्भात् । पर्यायत्वात्केवलादीनां न स्थितिरिति चेन्न, अत्रुटज्ज्ञानसंतानापेक्षया तत्स्थैर्यस्य विरोधाभावात् । न छद्मस्थज्ञानदर्शनयोरल्पत्वादमङ्गलत्वमेकदेशस्य माङ्गल्याभावे तद्विश्वावयवानामप्यमङ्गलत्वप्राप्तेः । रजोजुषां ज्ञानदर्शने न मङ्गलीभूतकेवलज्ञानदर्शनयोरवयवाविति चेन्न, ताभ्यां व्यतिरिक्तयोस्तयोरसत्वात् । मत्यादयोऽपि सन्तीति चेन्न, तदवस्थानां

प्रमाणोंसे जीवका अभाव होता हो ऐसा नहीं देखा जाता । किंतु प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे उसकी उपलब्धि होती ही है ।

यहां पर भस्मसे ढकी हुई अग्निके साथ व्यभिचार दोष भी नहीं आता है, क्योंकि ताप और प्रकाशकी वहां पर भी उपलब्धि होती है ।

विशेषार्थ--- आवृत अवस्थामें भी केवलज्ञानादि पाये जाते हैं, क्योंकि वे जीवके गुण हैं, यदि इस अवस्थामें उनका अभाव माना जावे तो जीवका भी अभाव मानना पड़ेगा । इस अनुमानको ध्यानमें रखकर शंकाकारका कहना है कि इस तरह तो भस्मसे ढकी हुई अग्निसे व्यभिचार हो जावेगा, क्योंकि, भस्माच्छादित अग्निमें अग्निरूप द्रव्यका सद्भाव तो पाया जाता है, किंतु उसके धर्मरूप ताप और प्रकाशका सद्भाव नहीं पाया जाता है । इस तरह हेतु विपक्षमें चला जाता है, अतएव वह व्यभिचरित हो जाता है । इस प्रकार शंकाकारका भस्मसे ढकी हुई अग्निके साथ व्यभिचारका दोष देना ठीक नहीं है, क्योंकि राखसे ढकी हुई अग्निमें भी उसके गुणधर्म ताप और प्रकाशकी उपलब्धि अनुमानादि प्रमाणोंसे बराबर सिद्ध होती है ।

शंका--- केवलज्ञानादि पर्यायरूप हैं । इसलिये आवृतअवस्थामें उनका सद्भाव नहीं बन सकता है ?

समाधान--- यह शंका भी ठीक नहीं हैं, क्योंकि, कभी भी नही टूटनेवाली ज्ञानसंतानकी अपेक्षा केवलज्ञानके (शक्ति रूपसे) सदा पाये जानेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

छद्मस्थ अर्थात् अल्पज्ञानियोंके ज्ञान और दर्शन अल्प होनेमात्रसे अमंगल नहीं हो सकते हैं, क्योंकि, ज्ञान और दर्शनके एकदेशमें मंगलपनेका अभाव होने पर ज्ञान और दर्शनके संपूर्ण अवयवोंको भी अमंगलपना प्राप्त होगा ।

शंका--- आवरणसे युक्त जीवोंके ज्ञान और दर्शन मंगलीभूत केवलज्ञान और केवलदर्शनके अवयवही नहीं हो सकते हैं ?

समाधान--- ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, केवलज्ञान और केवलदर्शनसे भिन्न ज्ञान और दर्शनका सद्भाव नहीं पाया जाता है ।

शंका--- केवलज्ञान और केवलदर्शनसे अतिरिक्त मतिज्ञानादि ज्ञान और चक्षुदर्शन आदि दर्शन तो पाये जाते है ? इनका अभाव कैसे किया जा सकता है ?

समाधान--- उस ज्ञान और दर्शनसंबन्धी अवस्थाओंकी मतिज्ञानादि और चक्षुदर्शनादि नाना संज्ञाएं हैं । अर्थात् ज्ञानगुणकी अवस्थाविशेषका नाम मत्यादि और दर्शनगुणकी

मत्यादिव्यपदेशात् । तयोः केवलज्ञानदर्शनाङ्कुरयोर्मङ्गलत्वे मिथ्यादृष्टिरपि मङ्गलं तत्रापि तौ स्त इति चेद्भवतु तद्रूपतया मङ्गलम्, न मिथ्यात्वादीनां मङ्गलत्वम् । न मिथ्यादृष्टयः सुगतिभाजः, सम्यग्दर्शनमन्तरेण तज्ज्ञानस्य सम्यक्त्वाभावात् कथं पुनस्तज्ज्ञानदर्शनयोर्मङ्गलत्वमिति चेन्न, सम्यग्दृष्टीनामवगताप्तस्वरूपाणां केवलज्ञानदर्शनावयवत्वेनाध्यवसितरजोजुड्ज्ञानदर्शनानामावरणविविक्तानन्तज्ञानदर्शनशक्तिखचितात्मस्मर्तॄणां वा पापक्षयकारित्वतस्तयोस्तदुपपत्तेः। नोआगमभव्यद्रव्यमङ्गलापेक्षया वा मङ्गलमनाद्यपर्यवसानमिति । रत्नत्रयमुपादायाविनष्टेनैवाप्तसिद्धस्वरूपापेक्षया

अवस्थाविशेषका नाम चक्षुदर्शनादि है । यथार्थमें इन सब अवस्थाओंमें रहनेवाले ज्ञान और दर्शन एक ही हैं ।

आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शंका-- केवलज्ञान और केवलदर्शनके अंकुररूप छद्मस्थोंके ज्ञान और दर्शनको मंगलपना प्राप्त होने पर मिथ्यादृष्टि जीव भी मंगल संज्ञाको प्राप्त होता है, क्योंकि, मिथ्यादृष्टि जीवमें भी वे अंकुर विद्यमान हैं ?

समाधान-- यदि ऐसा है तो भले ही मिथ्यादृष्टि जीवको ज्ञान और दर्शनरूपसे मंगलपना प्राप्त हो, किंतु इतनेसे ही मिथ्यात्व, अविरति आदिको मंगलपना प्राप्त नहीं हो सकता है ।

शंका-- मिथ्यादृष्टि जीव सुगतिको प्राप्त नहीं होते हैं, क्योंकि, सम्यग्दर्शनके विना मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञानमें समीचीनता नहीं पाई जाती । तथा समीचीनताके विना उन्हें सुगति नहीं मिल सकती है । फिर मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञान और दर्शनको मंगलपना कैसे है ?

समाधान-- ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि, आप्तके स्वरूपको जाननेवाले, छद्मस्थोंके ज्ञान और दर्शनको केवलज्ञान और केवलदर्शनके अवयवरूपसे निश्चय करनेवाले और आवरण-रहित अनन्तज्ञान और अनन्तदर्शनरूप शक्तिसे युक्त आत्माका स्मरण करनेवाले सम्यग्दृष्टियोंके ज्ञान और दर्शनमें जिस प्रकार पापका क्षयकारीपना पाया जाता है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञान और दर्शनमें भी पापका क्षयकारीपना पाया जाता है । इसलिये मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञान और दर्शनको भी मंगलपना होनेमें विरोध नहीं है ।

अथवा, नोआगमभाविद्रव्यमंगलकी अपेक्षा मंगल अनादि-अनंत है ।

विशेषार्थ-- जो आत्मा वर्तमानमें मंगलपर्यायसे युक्त तो नहीं है, किंतु भविष्यमें मंगलपर्यायसे युक्त होगा । उसके शक्तिकी अपेक्षासे अनादि-अनन्तरूप मंगलपना बन जाता है ।

रत्नत्रयको धारण करके कभी भी नष्ट नहीं होनेवाले रत्नत्रयके द्वारा ही प्राप्त हुए सिद्धके स्वरूपकी अपेक्षा नैगमनयसे मंगल सादि-अनंत है ।

विशेषार्थ-- रत्नत्रयकी प्राप्तिसे सादिपना और रत्नत्रय प्राप्तिके अनंतर सिद्ध स्वरूपकी

---

१. मु. मङ्गलम् । तत्र ।

नैगमनयेन साद्यपर्यवसितं मङ्गलम् । सादिसपर्यवसितं सम्यग्दर्शनापेक्षया जघन्येनान्तर्मुहूर्तकालमुत्कर्षेण षट्षष्ठिसागरा देशोनाः ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कतिविधं मङ्गलम्? मङ्गलसामान्यात्तदेकविधम्, मुख्यामुख्यभेदतो द्विविधम्, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रभेदात्त्रिविधं मङ्गलम्, धर्मसिद्धसाध्वर्हद्भेदाच्चतुर्विधम्, ज्ञानदर्शनत्रिगुप्तिभेदात् पञ्चविधम्, ' णमो जिणाणं ' इत्यादिनानेकविधं वा ।

अथवा मंगलम्हि छ अहियाराए दंडा वत्तव्वा भवंति । तं जहा, मंगलं मंगल-कत्ता मंगल-करणीयं मंगलोवायो मंगल-विहाणं मंगल-फलमिदि । एदेसिं छण्हं पि अत्थो उच्चदे । मंगलत्थो पुव्वुत्तो । मंगल-कत्ता चोद्दस-विज्जा-ट्ठाण-पारओ आइरियो । मंगल-करणीयं भव्व-जणो । मंगलोवायो ति-रयण-साहणाणि । मंगल-विहाणं एय-विहादि पुव्वुत्तं । मंगल-फलं अब्भुदय-णिस्सेयस-सुहाइं । तं[1] मंगलं सुत्तस्स आदीए मज्झे अवसाणे च वत्तव्वं । उत्तं च—

जो प्राप्ति हुई है उसका कभी अन्त आनेवाला नहीं है । इसतरह इन दोनों धर्मोंको ही विषय करनेवाले (न एकं गमः नैगमः) नैगमनयकी अपेक्षा मंगल सादि-अनन्त है ।

सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा मंगल सादि-सान्त समझना चाहिये । उसका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल कुछ कम छयासठ सागर प्रमाण है ।

मंगल कितने प्रकारका है ? मंगल-सामान्यकी अपेक्षा मंगल एक प्रकारका है । मुख्य और गौणके भेदसे दो प्रकारका है । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके भेदसे तीन प्रकारका है । धर्म, सिद्ध साधु और अर्हन्तके भेदसे चार प्रकारका है । ज्ञान, दर्शन और तीन गुप्तिके भेदसे पांच प्रकारका है । अथवा ' जिनेन्द्रदेवको नमस्कार हो ' इत्यादि रूपसे अनेक प्रकारका है ।

अथवा, मंगलके विषयमें छह अधिकारोंद्वारा दंडकोंका कथन करना चाहिये । वे इस प्रकार हैं । १ मंगल, २ मंगलकर्ता, ३ मंगलकरणीय, ४ मंगल-उपाय, ५ मंगल-भेद और ६ मंगल-फल । अब इन छह अधिकारोंका अर्थ कहते हैं । मंगलका अर्थ तो पहले कहा जा चुका है । चौदह विद्यास्थानोंके पारगामी आचार्य-परमेष्ठी मंगलकर्ता हैं । भव्यजन मंगल करने योग्य हैं । रत्नत्रयकी साधक सामग्री मंगलका उपाय है । एक प्रकारका मंगल, दो प्रकारका मंगल इत्यादि रूपसे मंगलके भेद पहले कह आये हैं । अभ्युदय और मोक्ष-सुख मंगलका फल है । अर्थात् जितने प्रमाणमें यह जीव मंगलके साधन मिलाता है उतने ही प्रमाणमें उससे जो यथायोग्य अभ्युदय और निःश्रेयस सुख मिलता है वही उसके मंगलका फल है । वह मंगल ग्रन्थके आदि, मध्य और अन्तमें कहना चाहिये । कहा भी है—

---

१. मु. मंगलं-फलं देहिंतो कय-अब्भुदय-णिस्सेयस-सुहाइत्तं ।

आदि-अवसाण-मज्झे[1] पण्णत्त मंगलं जिणिंदेहि ।
तो कय-मंगल-विणयो इणमो[2] सुत्तं पवक्खामि ॥ १९ ॥

तिसु ट्ठाणेसु मंगलं किमट्ठं वुच्चदे ? कय-कोउय[3]-मंगल-पायच्छित्ता[4] विणयोवगया सिस्सा अज्झेदारो सोदारो वत्तारो आरोग्गमविग्घेण विज्जं विज्जा-फलं च पावेंतु[5] त्ति । उत्तं च–

आदिम्हि भद्द-वयणं सिस्सा लहु पारया हवंतु त्ति ।
मज्झे अव्वोच्छित्ती विज्जा[6] विज्जा-फलं चरिमे[7] ॥ २० ॥

जिनेन्द्रदेवने आदि, अन्त और मध्यमें मंगल करनेका विधान किया है । अतः मंगल-विनयको करके मैं इस सूत्रका वर्णन करता हूं ॥ १९ ॥

शंका— ग्रन्थके आदि, मध्य और अन्त, इसप्रकार तीन स्थानोंमें मंगल करनेका उपदेश किसलिये दिया गया है ?

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

समाधान— मंगलसंबन्धी आवश्यक कृतिकर्म करनेवाले तथा मंगलसंबन्धी प्रायश्चित्त करनेवाले अर्थात् मंगलके लिये आगे प्रारंभ किये जानेवाले कार्यमें दुःस्वप्नादिकसे मनमें चंचलता आदि न हो इसलिये प्रायश्चित्तस्वरूप मंगलीक दधि, अक्षत, चंदनादिकको सामने रखनेवाले और विनयको प्राप्त ऐसे शिष्य, अध्येता अर्थात् पढ़नेवाले, श्रोता और वक्ता आरोग्य और निर्विघ्नरूपसे विद्या तथा विद्याके फलको प्राप्त हों, इसलिये तीनों जगह मंगल करनेका उपदेश दिया गया है । कहा भी है—

शिष्य सरलतापूर्वक प्रारंभ किये गये ग्रंथाध्ययनादि कार्यके पारंगत हों इसलिये आदिमें भद्रवचन अर्थात् मंगलाचरण करना चाहिये । प्रारम्भ किये गये कार्यकी व्युच्छित्ति न हो इसलिये मध्यमें मंगलाचरण करना चाहिये, और विद्या तथा विद्याके फलकी प्राप्ति हो, इसलिये अन्तमें मंगलाचरण करना चाहिये ॥ २० ॥

---

१. मु. आदिवसाणः मज्झे । २. मु. वि णमोसुत्तं ।

३. सौभाग्यादिनिमित्तं यत्स्नपनादि क्रियते तत्कौतुकम् । उक्तं च, सोहग्गादिणिमित्तं परेसिं ण्हवणादि कोउगं भणियं ॥ णाया– १, १४.

४. कृतानि कौतुकमङ्गलान्येव प्रायश्चित्तानि दुःस्वप्नादिविघातार्थमवश्यकरणीयत्वाद्यैस्ते तथा । अन्ये त्वाहुः 'पायश्चित्त' त्ति पादेन पादे वा छुप्ताश्चक्षुर्दोषपरिहारार्थं पादच्छुप्ताः । कृतकौतुकमङ्गलाश्च ते पादच्छुप्ताश्चेति विग्रहः । तत्र कौतुकानि मषीतिलकादीनि, मङ्गलानि तु सिद्धार्थकदध्यक्षतदूर्वाङ्कुरादि । भग. २, ५, १०८. टीका.

५. मु. विज्जाफलं पावेंतु ।

६. मु. अव्वोच्छित्ति य ।

७. पढमे मंगलवयणे सिस्सा सत्थस्स पारगा होंति । मज्झिम्मे णिव्विग्घं विज्जा विज्जाफलं चरिमे ॥ ति. प. १, २९.

विघ्नाः प्रणश्यन्ति भयं न जातु न दुष्टदेवाः परिलङ्घयन्ति ।
अर्थान्यथेष्टांश्च सदा लभन्ते जिनोत्तमानां परिकीर्तनेन[1] ॥ २१ ॥
आदौ मध्येऽवसाने च मङ्गलं भाषितं बुधैः ।
तज्जिनेन्द्रगुणस्तोत्रं तदविघ्नप्रसिद्धये ॥ २२ ॥

तं च[2] मंगलं दुविहं, णिबद्धमणिबद्धमिदि । तत्थ णिबद्धं णाम, जो सुत्तस्सादीए सुत्त-कत्तारेण कय[3]-देवदा-णमोक्कारो तं णिबद्ध-मंगलं । जो सुत्तस्सादीए सुत्त-कत्तारेण ण णिबद्धो[4] देवदा-णमोक्कारो तमणिबद्ध-मंगलं । इदं पुण जीवट्ठाणं णिबद्ध-मंगलं, 'एत्तो[5] इमेसिं चोद्दसण्हं जीवसमासाणं' इदि एदस्स सुत्तस्सादीए णिबद्ध-'णमो अरिहंताणं' इच्चादि-देवदा-णमोक्कार-दंसणादो ।

सुत्तं किं मंगलमुद अमंगलमिदि[6] ? जदि ण मंगलं, ण तं सुत्तं, पावकारणस्स

जिनेन्द्रदेवके गुणोंका कीर्तन करनेसे विघ्न नाशको प्राप्त होते हैं, कभी भी भय नहीं होता है, दुष्ट देवता आक्रमण नहीं कर सकते हैं और निरन्तर यथेष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति होती है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

विद्वान् पुरुषोंने, प्रारम्भ किये गये किसी भी कार्यके आदि, मध्य और अन्तमें मंगल करनेका विधान किया है । वह मंगल निर्विघ्न कार्यसिद्धिके लिये जिनेन्द्र भगवानके गुणोंका कीर्तन करना ही है ॥ २२ ॥

वह मंगल दो प्रकारका है, निबद्ध-मंगल और अनिबद्ध-मंगल । जो ग्रन्थके आदिमें ग्रन्थकारके द्वारा इष्ट-देवता नमस्कार निबद्ध कर दिया जाता है, अर्थात् श्लोकादिरूपसे रचा जाता है, उसे निबद्ध-मंगल कहते हैं। और ग्रंथके आदिमे जो ग्रन्थकारके द्वारा देवताको नमस्कार निबद्ध नही किया जाता है उसे अनिबद्ध-मंगल कहते हैं ।

विशेषार्थ--- ग्रन्थकार जो मंगल-पाठ स्वयं रचकर ग्रन्थमें निबद्ध करता है, उसे निबद्ध मंगल कहते हैं। जो अन्य-रचित मंगल-पाठ ग्रन्थमें लिखा जाता है, या मौखिक किया जाता है, उसे अनिबद्ध मंगल कहते हैं । इस व्यवस्थाके अनुसार षट्खण्डागमके प्रारम्भमें दिया गया णमोकार मंत्र निबद्ध मंगल है। उनमेंसे यह 'जीवस्थान' नामका प्रथम खण्डागम निबद्ध-मंगल है, क्योंकि, 'एत्तो इमेसिं चोद्दसण्हं जीवसमासाणं' इत्यादि जीवस्थानके इस सूत्रके पहले 'णमो अरिहंताणं' इत्यादि रूपसे देवता-नमस्कार निबद्धरूपसे देखनेमें आता है ।

---

१. णासदि विग्घं भेददि यंहो दुट्ठा सुरा ण लंघंति । इट्ठो अत्थो लब्भइ जिणणामं गहणमेत्तेण ॥ ति. प. १, ३०.

२. मु. तच्च ।

३. मु. 'णिबद्ध-देवदाणमोक्कारो । ४. मु. कय-देवदाणमोक्कारो तमणिबद्धमंगलं ' ।

५. मु. यत्तो ।

६. जइ मंगलं सयं चिय सत्थं तो किमिह मंगलग्गहणं ? सीसमइमंगलपरिग्गहत्थमेत्तं तदभिहाणं ॥ इह मंगलं पि मंगलबुद्धीए मंगलं जहा साहू । मंगलतियबुद्धिपरिग्गहे वि नणु कारणं भणिअं ॥ वि. भा. २०, २१.

सुत्तत्त-विरोहादो । अह मंगलं, किं तत्थ मंगलेण, एगदो चेय कज्ज-णिप्पत्तीदो इदि । ण ताव सुत्तं ण मंगलमिदि ? तारिस-पइज्जाभावादो परिसेसादो मंगलं स । सुत्तस्सादीए मंगलं पढिज्जदि, ण पुव्वुत्तदोसो वि, दोण्हं पि पुध पुध विणासिज्जमाण-पाव-दंसणादो । पढण-विग्घ-विद्दावणं मंगलं । सुत्तं पुण समयं पडि असंखेज्ज-गुण-सेढीए पावं गालिय पच्छा सव्व-कम्म-क्खय-कारणमिदि । देवतानमस्कारोऽपि चरमावस्थायां कृत्स्नकर्मक्षयकारीति द्वयोरप्येककार्यकर्तृत्वमिति चेन्न सूत्रविषयपरिज्ञान-मन्तरेण तस्य तथाविधसामर्थ्याभावात् । शुक्लध्यानान्मोक्षः, न च देवतानमस्कारः शुक्लध्यानमिति ।

मार्गदर्शक — आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इदाणिं देवदा-णमोक्कार-सुत्तस्सत्थो उच्चदे ।

' णमो अरिहंताणं ' अरिहननादरिहन्ता । नरकतिर्यक्कुमानुष्य-प्रेतावास-

---

शंका— सूत्र-ग्रन्थ स्वयं मंगलरूप है या अमंगलरूप ? यदि सूत्र स्वयं मंगलरूप नहीं है, तो वह सूत्र भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि, मंगलके अभावमें पापका कारण होनेसे उसमें सूत्रपनेका विरोध आता है । और यदि सूत्र स्वयं मंगलरूप है, तो फिर उसमें अलगसे मंगल करनेकी क्या आवश्यकता है, क्योंकि, मंगलरूप एक सूत्र-ग्रन्थसे ही कार्यकी निष्पत्ति हो जाती है, यदि कहा जाय कि सूत्र मंगल नहीं है, सो यह बात भी नहीं है, क्योंकि ऐसी प्रतिज्ञा नहीं पाई जाती, अतएव परिशेष न्यायसे वह मंगल है । तब फिर इसमें अलगसे मंगल क्यों किया गया ?

समाधान— यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सूत्रके आदिमें मंगल किया गया है तथापि पूर्वोक्त दोष नहीं आता है कारण कि सूत्र और मंगल इन दोनोंसे पृथक् पृथक् रूपमें पापोंका विनाश होता हुआ देखा जाता है ।

निबद्ध और अनिबद्ध मंगल पठनमें आनेवाले विघ्नोंको दूर करता है, और सूत्र, प्रतिसमय असंख्यात-गुणित-श्रेणीरूपसे पापोंका नाश करके उसके बाद संपूर्ण कर्मोंके क्षयका कारण होता है ।

शंका— देवता-नमस्कार भी अन्तिम अवस्थामें संपूर्ण कर्मोंका क्षय करनेवाला होता है, इसलिये मंगल और सूत्र ये दोनों ही एक कार्यको करनेवाले हैं । फिर दोनोंका कार्य भिन्न भिन्न क्यों बतलाया गया है ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, सूत्रकथित विषयके परिज्ञानके विना केवल देवता-नमस्कारमें कर्मक्षयकी सामर्थ्य नहीं है । मोक्षकी प्राप्ति शुक्लध्यानसे होती है, परंतु देवता-नमस्कार शुक्लध्यान नहीं है ।

अब देवता-नमस्कार सूत्रका अर्थ कहते हैं । 'णमो अरिहंताणं' अरिहंतोंको नमस्कार हो । अरि अर्थात् शत्रुओंके 'हननात्' अर्थात् नाश करनेसे 'अरिहंत' हैं ।

गताशेषदुःखप्राप्तिनिमित्तत्वादरिर्मोहः । तथा च शेषकर्मव्यापारो वैफल्यमुपेयादिति चेन्न, शेषकर्मणां मोहतन्त्रत्वात् । न हि मोहमन्तरेण शेषकर्माणि स्वकार्यनिष्पत्तौ व्यापृतान्युपलभ्यन्ते, येन तेषां स्वातन्त्र्यं जायेत । मोहे विनष्टेऽपि कियन्तमपि कालं शेषकर्मणां सत्त्वोपलम्भान्न तेषां तत्तन्त्रत्वमिति चेन्न, विनष्टेऽरौ जन्ममरणप्रबन्ध-लक्षणसंसारोत्पादनसामर्थ्यमन्तरेण तत्सत्त्वस्यासत्त्वसमानत्वात् केवलज्ञानाद्यशेषात्म-गुणाविर्भावप्रतिबन्धनप्रत्ययसमर्थत्वाच्च । तस्यारेर्हननादरिहन्ता[1] ।

रजोहननाद्वा अरिहन्ता । ज्ञानदृगावरणानि रजांसीव बहिरङ्गान्तरङ्गाशेषत्रि-कालगोचरानन्तार्थव्यञ्जनपरिणामात्मकवस्तुविषयबोधानुभवप्रतिबन्धकत्वाद्रजांसि ।

नरक, तिर्यंच, कुमानुष और प्रेत इन पर्यायोंमें निवास करनेसे होनेवाले समस्त दुःखोंकी प्राप्तिका निमित्तकारण होनेसे मोहको ' अरि ' अर्थात् शत्रु कहा है ।

शंका— केवल मोहको ही अरि मान लेनेपर शेष कर्मोंका व्यापार निष्फल हो जाता है ?

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, बाकीके समस्त कर्म मोहके ही आधीन हैं । मोहके विना शेष कर्म अपने अपने कार्यकी उत्पत्तिमें व्यापार करते हुए नहीं पाये जाते हैं । जिससे कि वे भी अपने कार्यमें स्वतन्त्र समझे जाय । इसलिये सच्चा अरि मोह ही है, और शेष कर्म उसके आधीन हैं ।

शंका— मोहके नष्ट हो जाने पर भी कितने ही काल तक शेष कर्मोंकी सत्ता रहती है, इसलिये उनका मोहके आधीन होना नहीं बनता ?

समाधान— ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि, मोहरूप अरिके नष्ट हो जाने पर जन्म, मरणकी परंपरारूप संसारके उत्पादनकी सामर्थ्य शेष कर्मोंमें नहीं रहनेसे उन कर्मोंका सत्त्व असत्त्वके समान हो जाता है । तथा केवलज्ञानादि संपूर्ण आत्म-गुणोंके आविर्भावके रोकनेमें समर्थ कारण होनेसे भी मोह प्रधान शत्रु है और उस शत्रुके नाश करनेसे ' अरिहंत ' यह संज्ञा प्राप्त होती है । अथवा, रज अर्थात् आवरण-कर्मोंके नाश करनेसे ' अरिहंत ' हैं । ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म धूलिकी तरह बाह्य और अन्तरंग स्वरूप समस्त त्रिकाल-गोचर अनन्त अर्थपर्याय और व्यंजनपर्यायस्वरूप वस्तुओंको विषय करनेवाले बोध और अनुभवके प्रतिबन्धक होनेसे रज कहलाते हैं । मोहको भी रज कहते हैं, क्योंकि, जिसप्रकार जिनका मुख

---

१. रागद्दोसकसाए य इंदियाणि य पंच य । परीसहे उवसग्गे णासयंतो णमोरिहा ॥ मूलाचा. ५०४. अट्ठविहं पि य कम्मं अरिभूयं होइ सव्वजीवाणं । तं कम्ममरिं हंता अरिहंता तेण वुच्चंति ॥ इंदियविसयकसाए परीसहे वेयणा उवस्सग्गे । एए अरिणो हंता अरिहंता तेण वुच्चंति । वि. भा. ३५८३, ३५८२.

मोहोऽपि रजः, भस्मरजसा पूरिताननानामिव भूयो मोहावरुद्धात्मनां जिह्मभावोपलम्भात् किमिति त्रितयस्यैव विनाश उपदिश्यत इति चेन्न, एतद्विनाशस्य शेषकर्मविनाशाविनाभावित्वात् । तेषां हननादरिहन्ता ।

रहस्याभावाद्वा अरिहन्ता । रहस्यमन्तरायः, तस्य शेषघातित्रितयविनाशाविनाभाविनो भ्रष्टबीजवन्निःशक्तीकृताघातिकर्मणो हननादरिहन्ता ।

अतिशयपूजार्हत्वाद्वार्हन्तः[1] । स्वर्गावतरणजन्माभिषेकपरिनिष्क्रमणकेवलज्ञानोत्पत्तिपरिनिर्वाणेषु देवकृतानां पूजानां देवासुरमानवप्राप्तपूजाभ्योऽधिकत्वादतिशयानामर्हत्वाद्योग्यत्वादर्हन्तः[2] ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

भस्मसे व्याप्त होता है उनमें जिम्हभाव अर्थात् कार्यकी मन्दता देखी जाती है, उसीप्रकार मोहसे जिनका आत्मा व्याप्त हो रहा है उनके भी जिम्हभाव देखा जाता है, अर्थात् उनकी स्वानुभूतिमें कालुष्य, मन्दता या कुटिलता पाई जाती है ।

शंका— यहां पर केवल तीनों, अर्थात् मोहनीय, ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मके ही विनाशका उपदेश क्यों दिया गया है ?

समाधान— ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि, शेष सभी कर्मोंका विनाश इन तीन कर्मोंके विनाशका अविनाभावी है । अर्थात् इन तीन कर्मोंके नाश हो जाने पर शेष कर्मोंका नाश अवश्यंभावी है । इसप्रकार उनका नाश करनेसे अरिहंत होते हैं ।

अथवा, 'रहस्य' के अभावसे भी अरिहंत होते हैं । रहस्य अन्तराय कर्मको कहते हैं । अन्तराय कर्मका नाश शेष तीन घातिया कर्मोंके नाशका अविनाभावी है, और अन्तराय कर्मके नाश होनेपर अघातिया कर्म भ्रष्ट बीजके समान निःशक्त हो जाते हैं । ऐसे अन्तराय कर्मके नाशसे अरिहंत होते हैं ।

अथवा, सातिशय पूजाके योग्य होनेसे अर्हन्त होते हैं, क्योंकि, गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवल और निर्वाण इन पांचों कल्याणकोंमें देवोंद्वारा की गई पूजायें देव, असुर और मनुष्योंको प्राप्त पूजाओंसे अधिक अर्थात् महान् हैं, इसलिये इन अतिशयोंके योग्य होनेसे अर्हन्त होते हैं ।

१. अरहंति णमोक्कारं अरिहा पूजा सुरुत्तमा लोए । रजहंता अरिहंति य अरहंता तेण उच्चंदे ॥ मूलाचा. ५०५;

अरिहंति वंदणणमंसणाई अरिहंति पूयसक्कारं । सिद्धिगमणं च अरिहा अरहंता तेण वुच्चंति ॥ देवासुरमणुएसु अरिहा पूजा सुरुत्तमा जम्हा । अरिणो हंता रयं हंता अरिहंता तेण वुच्चंति ॥ वि. भा. ३५८४, ३५८५.

२. अविद्यमानं वा रहः एकान्तरूपो देशः, अन्तश्च मध्यं गिरिगुहादीनां सर्ववेदितया समस्तवस्तुस्तोमगतप्रच्छन्नत्वस्याभावेन येषां ते अरहोऽन्तरः [अरहंता] अथवा अविद्यमानो रथः स्यन्दनः सकलपरिग्रहोपलक्षणभूतः अन्तश्च विनाशो जराद्युपलक्षणभूतो येषां ते अरथान्ता [अरहंता] अथवा 'अरहंताणं' ति

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

आविर्भूतानन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यविरतिक्षायिकसम्यक्त्वदानलाभभोगोपभो - गाद्यनन्तगुणत्वादिहैवात्मसात्कृतसिद्धस्वरूपाः स्फटिकमणिमहीधरगर्भोद्भूतादित्य-बिम्बवद्देदीप्यमानाः स्वशरीरपरिमाणा अपि ज्ञानेन व्याप्तविश्वरूपाः स्वस्थिताशेष-प्रमेयत्वतः प्राप्तविश्वरूपाः निर्गताशेषामयत्वतो निरामयाः विगताशेषपापाञ्जन-पुञ्जत्वेन निरञ्जनाः दोषकलातीतत्वतो निष्कलाः, तेभ्योऽर्हद्भ्यो नमः इति यावत् ।

णिद्दड्ढ-मोह-तरुणो वित्थिण्णाणाण[1]-सायरुत्तिण्णा ।
णिहय-णिय-विग्घ-वग्गा बहु-बाह-विणिग्गया अयला ॥ २३ ॥
दलिय-मयण-प्पयावा तिकाल-विसएहि तीहि णयणेहि ।
दिट्ठ-सयलट्ठ-सारा सुदड्ढ-तिउरा मुणि-व्वइणो ॥ २४ ॥
ति-रयण-तिसूलदारियमोहंधासुर-कबंध-बिंद-हरा ।
सिद्ध-सयलप्प-रूवा अरहंता दुण्णय-कयंता ॥ २५ ॥

अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्त-सुख, अनन्त-वीर्य, अनन्त-विरति, क्षायिक-सम्यक्त्व, क्षायिक-दान, क्षायिक-लाभ, क्षायिक-भोग और क्षायिक-उपभोग आदि प्रगट हुए अनन्त गुण-स्वरूप होनेसे जिन्होंने यहीं पर सिद्धस्वरूप प्राप्त कर लिया है, स्फटिकमणिके पर्वतके मध्यसे निकलते हुए सूर्य-बिम्बके समान जो देदीप्यमान हो रहे हैं, अपने शरीर-प्रमाण होने पर भी जिन्होंने अपने ज्ञानके द्वारा संपूर्ण विश्वको व्याप्त कर लिया है, अपने (ज्ञान) में ही संपूर्ण प्रमेय रहनेके कारण (प्रतिभासित होनेसे) जो विश्वरूपताको प्राप्त हो गये हैं, संपूर्ण आमय अर्थात् रोगोंसे दूर हो जानेके कारण जो निरामय हैं, संपूर्ण पापरूपी अंजनके समूहके नष्ट हो जानेसे जो निरंजन हैं, और दोषोंकी कलायें अर्थात् संपूर्ण दोषोंसे रहित होनेके कारण जो निष्कल हैं, ऐसे उन अरिहंतोंको नमस्कार हो यह उक्त कथनका तात्पर्य है ।

जिन्होंने मोहरूपी वृक्षको जला दिया है, जो विस्तीर्ण अज्ञानरूपी समुद्रसे उत्तीर्ण हो गये हैं, जिन्होंने अपने विघ्नोंके समूहको नष्ट कर दिया है, जो अनेक प्रकारकी बाधाओंसे रहित हैं, जो अचल हैं, जिन्होंने तीनों कालोंको विषय करनेरूप तीन नेत्रोंसे कामदेवके प्रतापको दलित कर दिया है, जिन्होंने सकल पदार्थोंके सारको देख लिया है, जिन्होंने त्रिपुर अर्थात् मोह, राग और द्वेषको अच्छी तरहसे भस्म कर दिया है, जो मुनिव्रती अर्थात् दिगम्बर अथवा मुनियोंके पति अर्थात् ईश्वर हैं, जिन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र इन तीन रत्नरूपी त्रिशूलकेद्वारा मोहरूपी अंधकाररूपअसुरके कबन्धजडको विदारित कर लिया है,

---

क्वचिदप्यासक्तिमगच्छन्तः, क्षीणरागत्वात् । अथवा 'अरहयद्भ्यः' प्रकृष्टरागादिहेतुभूतमनोज्ञेतरविषय-संपर्केऽपि वीतरागत्वादिकं स्वं स्वभावमत्यजन्तः (अरहंता) । अरुहंताणमित्यपि पाठान्तरम् । तत्र 'अरोहद्भ्यः' अनुपजायमानेभ्यः क्षीणकर्मबीजत्वात् । आह च, दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः । कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवांकुरः ॥ नमस्करणीयता चैषां भीमभवगहनभ्रमणभीतभूतानामनुपमानन्द-रूपपरमपदपुरपथप्रदर्शकत्वेन परमोपकारित्वादिति । भग. १, १, १, टीका.

१. अ. ब. वित्थिण्णणाण.

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

'णमो सिद्धाणं' सिद्धाः निष्ठिताः कृतकृत्याः[1] सिद्धसाध्याः नष्टाष्टकर्माणः[2]। सिद्धानामर्हतां च को भेद इति चेन्न, नष्टाष्टकर्माणः सिद्धाः नष्टघातिकर्माणोऽर्हन्त इति तयोर्भेदः। नष्टेषु घातिकर्मस्वाविर्भूताशेषात्मगुणत्वान्न गुणकृतस्तयोर्भेद इति चेन्न, अघातिकर्मोदयसत्त्वोपलम्भात्। तानि शुक्लध्यानाग्निनार्धदग्धत्वात्सन्त्यपि न स्वकार्यकर्तृणीति चेन्न, पिण्डनिपाताभावान्यथानुपपत्तितः आयुष्यादिशेषकर्मोदयास्तित्व

....

जिन्होंने संपूर्ण आत्मस्वरूपको प्राप्त कर लिया है और जिन्होंने दुर्नयका अन्त कर दिया है, ऐसे अरिहंत परमेष्ठी होते हैं ॥ २३, २४, २५ ॥

विशेषार्थ— शैवमतमें महादेवको अपने तीन नेत्रोंसे कामदेवका नाश करनेवाला, सकल पदार्थोंके सारको जाननेवाला, त्रिपुरका ध्वस करनेवाला, मुनिव्रती अर्थात् दिगम्बर, त्रिशूलको धारण करनेवाला और अन्धकासुरके कबन्धवृन्दका हरण करनेवाला माना है। महादेवके इन विशेषणोंको लक्ष्यमें रखकर उक्त तीन गाथाओंमेंसे अन्तकी दो गाथाओंकी रचना हुई है। इससे यह प्रगट हो जाता है कि अरिहंत परमेष्ठी ही सच्चे महादेव हैं।

'णमो सिद्धाणं' अर्थात् सिद्धोंको नमस्कार हो। जो निष्ठित अर्थात् पूर्णतः अपने स्वरूपमें स्थित हैं, कृतकृत्य हैं, जिन्होंने अपने साध्यको सिद्ध कर लिया है, और जिनके ज्ञानावरणादि आठ कर्म नष्ट हो चुके हैं उन्हें सिद्ध कहते हैं।

शंका— सिद्ध और अरिहंतोंमें क्या भेद है?

समाधान— ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, आठ कर्मोंको नष्ट करनेवाले सिद्ध होते हैं, और चार घातिया कर्मोंको नष्ट करनेवाले अरिहंत होते हैं। यही उन दोनोंमें भेद है।

शंका— चार घातिया कर्मोंके नष्ट हो जानेपर अरिहंतोंके आत्माके समस्त गुण प्रकट हो जाते हैं, इसलिये सिद्ध और अरिहंत परमेष्ठीमें गुणकृत भेद नहीं हो सकता है?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, अरिहंतोंके अघातियाकर्मोंका उदय और सत्व दोनों पाये जाते हैं। इसलिये इन दोनोंमें भेद है।

शंका— वे अघातिया कर्म शुक्लध्यानरूप अग्निके द्वारा अधजलेसे हो जानेके कारण उदय और सत्वरूपसे विद्यमान रहते हुए भी अपना कार्य करनेमें समर्थ नहीं है?

समाधान— ऐसा भी नहीं है, क्योंकि, शरीरके पतनका अभाव अन्यथा सिद्ध नहीं होता है, इसलिये अरिहंतोंके आयु आदि शेष कर्मोंके उदय और सत्वकी सिद्धि हो जाती है। अर्थात् यदि आयु आदि कर्म अपने कार्यमें असमर्थ माने जायं, तो शरीरका पतन हो जाना चाहिये। परंतु शरीरका पतन तो होता नहीं है, इसलिये आयु आदि शेष कर्मोंका कार्य करना सिद्ध है।

....

१. सर्वविवर्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति। भवति तदा कृतकृत्यः सम्यक् पुरुषार्थसिद्धिमापन्नः॥ पु. सि. ११.

२. दीहकालमयं जंतू उसिदो अट्ठकम्मसु। सिदे धत्ते णिवत्ते य सिद्धत्तमुवगच्छइ। मूलाचा. ५०७.

सिद्धेः । तत्कार्यस्य चतुरशीतिलक्षयोन्यात्मकस्य जातिजरामरणोपलक्षितस्य संसार-स्यासत्त्वात्तेषामात्मगुणघातनसामर्थ्याभावाच्च न तयोर्गुणकृतो भेद इति चेन्न, आयुष्यवेदनीयोदययोर्जीवोर्ध्वगमनसुखप्रतिबन्धकयोः सत्त्वात् ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

नोर्ध्वगमनमात्मगुणः, तदभावे चात्मनो विनाशप्रसङ्गात् । सुखमपि न गुण-स्ततः एव । न वेदनीयोदयो दुःखजनकः, केवलिनि केवलित्वान्यथानुपपत्तेरिति चेद-स्त्वेवमेव न्यायप्राप्तत्वात् । किंतु सलेपनिर्लेपत्वाभ्यां देशभेदाच्च तयोर्भेद इति सिद्धम् ।

शंका— उन कर्मोंका कार्य तो चौरासी लाख योनिरूप जन्म, जरा और मरणसे युक्त संसार है । वह, अघातिया कर्मोंके रहने पर भी अरिहंत परमेष्ठीके नहीं पाया जाता है । तथा, अघातिया कर्म आत्माके गुणोंके घात करनेमें असमर्थ भी हैं । इसलिये अरिहंत और सिद्ध परमेष्ठीमें गुणकृत भेद नहीं बनता ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, जीवके ऊर्ध्वगमन स्वभावका प्रतिबन्धक आयु-कर्मका उदय और सुखगुणका प्रतिबन्धक वेदनीय कर्मका उदय अरिहंतोंके पाया जाता है ।

शंका— ऊर्ध्वगमन आत्माका गुण नहीं है, क्योंकि, उसके आत्माका गुण होने पर उसके अभावमें आत्माका भी अभाव प्राप्त होता है । इसीकारण सुख भी आत्माका गुण नहीं है । दूसरे वेदनीय कर्मका उदय केवलीमें दुखको भी उत्पन्न नहीं करता है, अन्यथा, अर्थात् वेदनीय कर्मको दुःखोत्पादक मान लेने पर, केवली भगवान्‌के केवलीपनाही नहीं बन सकता है ?

समाधान— यदि ऐसा है तो रहो, क्योंकि, वह न्यायसंगत है । फिर भी सलेपत्व और निर्लेपत्वकी अपेक्षा और देशभेदकी अपेक्षा उन दोनों परमेष्ठियोंमें भेद सिद्ध है ।

विशेषार्थ— अरिहंत और सिद्धोंमें अनुजीवी गुणोंकी अपेक्षा तो कोई भेद नहीं है । फिर भी प्रतिजीवी गुणोंकी अपेक्षा माना जा सकता है । परंतु प्रतिजीवी गुण आत्माके भाव-स्वरूप धर्म नहीं होनेसे तत्कृत भेदकी कोई मुख्यता नहीं है । इसलिये सलेपत्व और निर्लेपत्वकी अपेक्षा अथवा देशभेदकी अपेक्षा ही इन दोनोंमें भेद समझना चाहिये । टीकाकारने जो ऊर्ध्वगमन और सुख आत्माके गुण नहीं है, इसप्रकारका कथन किया है । वहां पर उन दोनों गुणोंका तात्पर्य प्रतिजीवी गुणोंसे है । ऊर्ध्वगमनसे अवगाहनत्व और सुखसे अव्याबाध गुणका ग्रहण करना चाहिये । क्योंकि, आयु और वेदनीयके अभावसे होनेवाले जिन गुणोंको अवगाहन और अव्याबाध कहा है उन्हें ही यहां पर ऊर्ध्वगमन और सुखके नामसे प्रतिपादन किया है ।

तेभ्यः सिद्धेभ्यो नम[1] इति यावत् ।

मार्गदर्शक :– आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

णिहय-विविहट्ठ-कम्मा तिहुवण-सिर-सेहरा विहुव-दुक्खा ।
सुह-सायर-मज्झ-गया णिरंजणा णिच्च अट्ठ-गुणा ॥ २६ ॥
अणवज्जा कय-कज्जा सव्वावयवेहि दिट्ठ-सव्वट्ठा ।
वज्ज-सिलत्थब्भग्गयपडिमं[2] वाभेज्ज-संठाणा ॥ २७ ॥
माणुस-संठाणा वि हु सव्वावयवेहि णो गुणेहि समा ।
सव्विंदियाण विसयं जमेग-देसे वि जाणंति ॥ २८ ॥

'णमो आइरियाणं' [3]पञ्चविधमाचारं चरति चारयतीत्याचार्यः[4] [5]चतुर्दश-विद्यास्थानपारगः[6] [7]एकादशाङ्गधरः[8] आचाराङ्गधरो वा तात्कालिकस्वसमयपरसमय-पारगो[6] वा मेरुरिव निश्चलः क्षितिरिव सहिष्णुः सागर इव बहिःक्षिप्तमलः सप्तभय-

ऐसे सिद्धोंको नमस्कार हो यह उक्त कथनका तात्पर्य है ।

जिन्होंने नाना भेदरूप आठ कर्मोंका नाश कर दिया है, जो तीन लोकके मस्तकके शेखरस्वरूप हैं, दुःखोंसे रहित हैं, सुखरूपी सागरमें निमग्न हैं, निरंजन हैं, नित्य हैं, आठ गुणोंसे युक्त हैं, अनवद्य अर्थात् निर्दोष हैं, कृतकृत्य हैं, जिन्होंने सर्वांगसे समस्त पर्यायोंसहित संपूर्ण पदार्थोंको जान लिया है, जो वज्रशिलामें उत्कीर्ण प्रतिमाके समान अभेद्य आकारसे युक्त हैं, जो सब अवयवोंसे पुरुषाकार होने पर भी गुणोंसे पुरुषके समान नहीं हैं, क्योंकि, जो संपूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको एक देशमें भी जानते हैं वे सिद्ध हैं ।

'णमो आइरियाणं' आचार्य परमेष्ठीको नमस्कार हो । जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य इन पांच आचारोंका स्वयं आचरण करता है और दूसरे साधुओंसे आचरण कराता

---

१. नमस्करणीयता चैषामविप्रणाशिज्ञानदर्शनसुखवीर्यादिगुणयुक्ततया स्वविषयप्रमोदप्रकर्षोत्पादनेन भव्यानामतीवोपकारहेतुत्वादिति । भग. १, १, १, टीका.

२. अ. ब. वज्जसिलत्थं सिग्गयपडिमं ।

३. जम्हा पंचविहाचारं आचरंतो पभासदि । आयरियाणि देसंतो आयरिओ तेण उच्चदे ॥ मूलाचा. ५१०. आयारं पंचविहं चरदि चरावेदि जो णिरदिचारं । उवदिसदि य आयारं एसो आयारवं णाम ॥
मूलाचा. ४१९.

४. मु. चरन्ति चारयन्तीत्याचार्याः ।

५. चोद्दसदसणवपुव्वी महामदी सायरो व्व गंभीरो । कप्पववहारधारी होदि हु आयारवं नाम ॥
मूलाचा. ४२५.

६. मु. पारगाः ।

७. पंचमहव्वयतुंगा तक्कालियसपरसमयसुदधारा । णाणागुणगणभरिया आइरिया मम पसीदंतु ॥
ति. प. १, ३.

८. मु. धराः ।

९. गंभीरो दुद्धरिसो सूरो धम्मप्पहावणासीलो । खिदिससिसायरसरिसो कमेण तं सो दु संपत्तो ॥
मूलाचा. १५९.

विप्रमुक्तः[1] आचार्यः ।

पवयण-जलहि-जलोयर-ण्हायामल-बुद्धि-सुद्ध-छावासो[2] ।
मेरु व्व णिप्पकंपो सूरो पंचाणणो वज्जो ॥ २९ ॥
देस-कुल-जाइ-सुद्धो सोमंगो संग-भंग-उम्मुक्को ।
गयण व्व णिरुवलेवो आइरियो एरिसो होइ ॥ ३० ॥
संगह-णुग्गह[3]-कुसलो सुत्तत्थ-विसारओ पहिय-कित्ती ।
सारण-वारण-सोहण[4]-किरियुज्जुत्तो हु आइरियो[5] ॥ ३१ ॥

एवंविधेभ्य आचार्येभ्यो[6] नम इति यावत् ।

है उसे आचार्य कहते हैं। जो चौदह विद्यास्थानोंका पारंगत है, ग्यारह अंगका धारी है, अथवा आचारांगमात्रका धारी है अथवा तत्कालीन स्वसमय और परसमयमें पारंगत है, मेरुके समान निश्चल है, पृथिवीके समान सहनशील है, जिसने समुद्रके समान मल अर्थात् दोषोंको बाहिर फेंक दिया है, और जो सात प्रकारके भयसे रहित है, उसे आचार्य कहते हैं।

प्रवचनरूपी समुद्रके जलके मध्यमें स्नान करनेसे अर्थात् परमागमके परिपूर्ण अभ्यास और अनुभवसे जिनकी बुद्धि निर्मल हो गई है, जो निर्दोष रीतिसे छह आवश्यकोंका पालन करते हैं, जो मेरु पर्वतके समान निष्कम्प हैं, जो शूरवीर हैं, जो सिंहके समान निर्भीक हैं, जो निर्दोष हैं, देश, कुल और जातिसे शुद्ध हैं, सौम्यमूर्ति हैं, अन्तरंग और बहिरंग परिग्रहसे रहित हैं, आकाशके समान निर्लेप हैं, ऐसे आचार्य परमेष्ठी होते हैं। जो संघके संग्रह अर्थात् दीक्षा और अनुग्रह करनेमें कुशल हैं, जो सूत्र अर्थात् परमागमके अर्थमें विशारद हैं, जिनकी कीर्ति सब जगह फैल रही है, जो सारण अर्थात् आचरण, वारण अर्थात् निषेध और शोधन अर्थात् व्रतोंकी शुद्धि करनेवाली क्रियाओंमें निरन्तर उद्युक्त हैं, उन्हें आचार्य परमेष्ठी समझना चाहिये ॥ २९, ३०, ३१ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

ऐसे आचार्योंको नमस्कार हो यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

---

१. तत्र भीतिरिहामुत्र लोके वै वेदनाभयम् । चतुर्थी भीतिरत्राणं स्यादगुप्तिस्तु पंचमी ॥ भीतिः स्याद्वा तथा मृत्युः भीतिराकस्मिकं ततः । क्रमादुद्देशिताश्चेति सप्तैता भीतयः स्मृताः ॥ पञ्चाध्या. २, ५०४, ५०५.

२. 'सुद्धछावासो' ण वसो अवसो, अवसस्स कम्ममावासगं इति व्युत्पत्तावपि सामयिकादिष्वेवायं शद्बो वर्तते । व्याधिदौर्बल्यादिना व्याकुलो भण्यते अवशः परवश इति यावत् । तेनापि कर्त्तव्यं कर्मेति । अथवा 'आवासो' इत्ययमर्थः, आवासयन्ति रत्नत्रयमात्मनीति कृत्वा सामायिकं चतुर्विंशतिस्तवो वंदना प्रतिक्रमणं प्रत्याख्यानं व्युत्सर्गं इत्यमी इत्यमूनि षडावश्यकानि ॥ मूलारा. गा. ११६ टीका.

३, मु.-णिग्गह- । ४. मु.-साहण- ।

५. संगहणुग्गहकुसलो सुत्तत्थविसारओ पहियकित्ती । किरियाचरणसुजुत्तो गाहुयआदेज्जवयणो य ॥
मूलाचा. १५८. समाचार अ.

६. आ मर्यादया तद्विषयविनयरूपया चर्यन्ते सेव्यन्ते जिनशासनार्थोपदेशकतया तदाकाङ्क्षिभिः

'णमो उवज्झायाणं' चतुर्दशविद्यास्थानव्याख्यातारः उपाध्यायाः तात्कालिक-प्रवचनव्याख्यातारो वा आचार्यस्योक्ताशेषलक्षणसमन्विताः संग्रहानुग्रहादिगुणहीनाः।

चोद्दस-पुव्व-महोयहिमहिगम्म सिव-त्थिओ सिवत्थीणं।
सीलंधराण वत्ता होइ मुणी सो उवज्झायो॥ ३२॥

एतेभ्य उपाध्यायेभ्यो[1] नमः[2]।

'णमो उवज्झायाणं' उपाध्याय परमेष्ठीको नमस्कार हो। चौदह विद्यास्थानके व्याख्यान करनेवाले उपाध्याय होते हैं, अथवा तत्कालीन परमागमके व्याख्यान करनेवाले उपाध्याय होते हैं। वे संग्रह, अनुग्रह आदि गुणोंको छोडकर पहले कहे गये आचार्यके समस्त गुणोंसे युक्त होते हैं।

जो साधु चौदह पूर्वरूपी समुद्रमें प्रवेश करके अर्थात् परमागमका अभ्यास करके मोक्षमार्गमें स्थित हैं, तथा मोक्षके इच्छुक शीलंधरों अर्थात् मुनियोंको उपदेश देते हैं, उन मुनीश्वरोंको उपाध्याय परमेष्ठी कहते हैं॥ ३२॥

ऐसे उपाध्यायोंको नमस्कार हो।

इत्याचार्याः। उक्तं च, सुत्तत्थविऊ लक्खणजुत्तो गच्छस्स मेढिभूओ य। गणतत्तिविप्पमुक्को अत्थं वाएइ आयरिओ॥ अथवा आचारो ज्ञानाचारादिः पञ्चधा। आ मर्यादया वा चारो विहारः आचारस्तत्र साधवः स्वयंकरणात् प्रभाषणात् प्रदर्शनाच्चेत्याचार्याः। आह च, पंचविहं आयारं आयरमाणा तहा पयासंता। आयारं दंसंता आयरिया तेण वुच्चंति॥ अथवा आ ईषद् अपरिपूर्णा इत्यर्थः चारा हेरिका ये ते आचाराः चारकल्पा इत्यर्थाः। युक्तायुक्तविभागनिरूपणनिपुणा विनेयाः, अतस्तेषु साधवो यथावच्छास्त्रार्थोपदेशकतया इत्याचार्याः। नमस्यता चैषामाचारोपदेशकतयोपकारित्वात्। भग. १, १, १. टीका.

१. बारसंगं जिणक्खादं सज्झायं कथितं बुधें। उवदेसइ सज्झायं तेणुवज्झाउ उच्चंदि॥ मूलाचा. षडावश्यक १०, आ. नि. १०००. 'उ' त्ति उवओगकरणे 'ज्झ' त्ति य झाणस्य होइ णिद्देसे। एएण होंति उज्झा एसो अन्नो वि पज्जाओ॥ 'उ' त्ति उवओगकरणे 'व' त्ति अ पावपरिवज्जणे होइ। 'झ' त्ति अ झाणस्स कए 'ओ' त्ति अ ओक्कस्सणा कम्मे॥ आ. नि. ९९८, ९९९. उप समीपमागत्याधीयते 'इङ् अध्ययने', इति वचनात् पठ्यते 'इण् गतौ' इति वचनाद्वा अधि आधिक्येन गम्यते, 'इक् स्मरणे' इति वचनाद्वा स्मर्यते सूत्रतो जिनप्रवचनं येभ्यस्ते उपाध्यायाः। यदाह, बारसंगो जिणक्खाओ सज्झाओ कहिओ बुहे। तं उवइसंति जम्हा उवज्झाया तेण वुच्चंति॥ अथवा उपधानमुपाधिः संनिधिस्तेनोपाधिना उपाधौ वा आयो लाभः श्रुतस्य येषां ते। उपधीनां वा विशेषणानां प्रक्रमाच्छोभनानामायो लाभो येभ्यः। अथवा उपाधिरेव संनिधिरेव आयं इष्टफलं दैवजनितत्वेन अयानां इष्टफलानां समूहस्तदेकहेतुत्वाद्येषां ते। अथवा आधीनां मनःपीडानामायो लाभ आध्यायः अधियां वा 'नञः कुत्सार्थत्वात्' कुबुद्धीनामायोऽध्यायः। ध्यै चिन्तायां इत्यस्य धातोः प्रयोगान्नञः कुत्सार्थत्वादेव च दुर्ध्यानं वाध्यायः। उपहत आध्यायः अध्यायो वा यैस्ते उपाध्यायाः। नमस्यता चैषां सुसम्प्रदायायातजिनवचनाध्यापनतो विनयनेन भव्यानामुपकारित्वादिति। भग. १, १, १. टीका.

२. मु. नम इति यावत्।

'णमो लोए सव्व साहूणं' अनन्तज्ञानादिशुद्धात्मस्वरूपं साधयन्तीति साधवः। पञ्चमहाव्रतधरास्त्रिगुप्तिगुप्ताः अष्टादशशीलसहस्रधराश्चतुरशीतिशतसहस्रगुणधराश्च साधवः।

सीह-गय-वसह-मिय-पसु-मारुद-सूरुवहि-मंदरिंदु-मणी।
खिदि-उरगंबर-सरिसा परम-पय-विमग्गया साहू॥ ३३॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सकलकर्मभूमिषूत्पन्नेभ्यस्त्रिकालगोचरेभ्यः साधुभ्यो नमः[२]।

'णमो लोए सव्वसाहूणं' लोक अर्थात् ढाई द्वीपवर्ती सर्व साधओंको नमस्कार हो। जो अनन्तज्ञानादिरूप शुद्ध आत्माके स्वरूपकी साधना करते हैं उन्हें साधु कहते हैं। जो पांच महाव्रतोंको धारण करते हैं, तीन गुप्तियोंसे सुरक्षित हैं, अठारह हजार शीलके भेदोंको धारण करते हैं और चौरासी लाख उत्तर गुणोंका पालन करते हैं, वे साधु परमेष्ठी होते हैं।

सिंहके समान पराक्रमी, गजके समान स्वाभिमानी या उन्नत, बैलके समान भद्रप्रकृति, मृगके समान सरल, पशुके समान निरीह गोचरी-वृत्ति करनेवाले, पवनके समान निःसंग या सब जगह बिना रुकावटके विचरनेवाले, सूर्यके समान तेजस्वी या सकल तत्वोंके प्रकाशक, उदधि अर्थात् सागरके समान गम्भीर, मन्दराचल अर्थात् सुमेरु-पर्वतके समान परीषह और उपसर्गोंके आने पर अकम्प और अडोल रहनेवाले, चन्द्रमाके समान शान्तिदायक, मणिके समान प्रभापुंजयुक्त, क्षितिके समान सर्व प्रकारकी बाधाओंको सहनेवाले, उरग अर्थात् सर्पके समान दूसरेके बनाये हुए अनियत आश्रय-वसतिका आदिमें निवास करनेवाले, अम्बर अर्थात् आकाशके समान निरालम्बी या निर्लेप और सदाकाल परमपद अर्थात् मोक्षका अन्वेषण करनेवाले होते हैं॥ ३३॥

संपूर्ण कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुए त्रिकालवर्ती साधूओंको नमस्कार हो।

---

१. गगणतलं व णिरालंबणा, वाउरिव अपडिबंधा, सारदसलिल इव सुद्धहियया, पुक्खरपत्त इव निरुवलेवा, कुम्मो इव गुत्तिदिया, विहग इव विप्पमुक्का, खग्गिविसाणं व एगजाया, भारंडपक्खी व अप्पमत्ता, कुंजरो इव सोंडीरा, वसभो इव जातत्थिमा, सीहो इव दुद्धरिसा, मंदरा इव अप्पकंपा, सागरो इव गंभीरा, चंदो इव सोमलेसा, सूरो इव दित्ततेया, जच्चकंचणगं व इव जातरूवा, वसुंधरा इव सव्वफासविसया, सहुयहुयासणो तेयसा जलंता अणगारा। सूत्र. २, २. ७०. उरगगिरिजलणसागरनहतलतरुगणसमो अ जो होई। भमरमियधरणिजलरुहरविपवणसमो अ तो समणो॥ अनु. पृ. २५६.

२. णिव्वाणसाधए जोगे सदा जुंजंति साधवो। समा सव्वेसु भूदेसु तम्हा ते सव्वसाधवो॥ मूलाचा. ५१२. आ. नि. १००५. साधयन्ति ज्ञानादिशक्तिभिर्मोक्षमिति साधवः। समतां वा सर्वभूतेषु ध्यायन्तीति निरुक्तिन्यायात् साधवः। यदाह, णिव्वाणसाहए जोए जम्हा साहेंति साहुणो। समा य सव्वभूएसु तम्हा ते भावसाहुणो॥ साहायकं वा संयमकारिणां धारयन्तीति साधवाः। सर्वग्रहणं च सर्वेषां गुणवताम-विशेषनमनीयताप्रतिपादनार्थम्। अथवा, सर्वेभ्यो जीवेभ्यो हिताः सार्वाः, ते च ते साधवश्च सार्वसाधवः। सार्वस्य वा अर्हतो न तु बुद्धादेः साधवः सार्वसाधवः। सर्वान् वा शुभयोगान् साधयन्ति कुर्वन्ति, सार्वान् वा अर्हतः साधयन्ति तदाज्ञाकरणादाराधयन्ति प्रतिष्ठापयन्ति वा दुर्नयनिराकरणादिति सर्वसाधवः सार्वसाधवो वा। अथवा श्रव्येषु श्रवणार्हेषु वाक्येषु अथवा सव्यानि दक्षिणान्यनुकूलानि यानि कार्याणि तेषु साधवो निपुणाः श्रव्यसाधवः सव्यसाधवो वा। एवां च नमनीयता मोक्षमार्गसाहायककरणेनोपकारित्वात्। भग. १, १, १. टीका.

सर्वनमस्कारेष्वत्रतनसर्वलोकशब्दावन्त्यदीपकत्वादध्याहर्तव्यौ सकलक्षेत्रगत-त्रिकालगोचरार्हदादिदेवताप्रणमनार्थम् ।

युक्तः प्राप्तात्मस्वरूपाणामर्हतां सिद्धानां च नमस्कारः, नाचार्यादीनाम्, अप्राप्तात्मस्वरूपत्वतस्तेषां देवत्वाभावादिति न, देवो हि नाम त्रीणि रत्नानि स्वभेदतोऽनन्तभेदभिन्नानि, तद्विशिष्टो जीवोऽपि देवः, अन्यथाशेषजीवानामपि देवत्वापत्तेः । तत आचार्यादयोऽपि देवाः, रत्नत्रयास्तित्वं प्रत्यविशेषात् । नाचार्यादिस्थितरत्नानां सिद्धस्थरत्नेभ्यो भेदः, रत्नानामाचार्यादिस्थितानामभावापत्तेः । न कारणकार्यत्वाद्भेदः, सत्स्वेवाचार्यादिस्थरत्नावयवेष्वन्यस्य तिरोहितस्य रत्नभागस्य[1]

पांच परमेष्ठियोंको नमस्कार करनेमें, इस नमस्कार मंत्रमें जो 'सर्व' और 'लोक' पद हैं वे अन्तदीपक हैं, अतः संपूर्ण क्षेत्रमें रहनेवाले त्रिकालवर्ती अरिहंत आदि देवताओंको नमस्कार करनेके लिए उन्हें प्रत्येक नमस्कारात्मक पदके साथ जोड़ लेना चाहिये ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शंका— जिन्होंने आत्म-स्वरूपको प्राप्त कर लिया है ऐसे अरिहंत और सिद्ध परमेष्ठीको नमस्कार करना योग्य है, किंतु आचार्यादिक तीन परमेष्ठियोंने आत्म-स्वरूपको प्राप्त नहीं किया है, इसलिये उनमें देवपना नहीं आ सकता है । अतएव उन्हें नमस्कार करना योग्य नहीं है ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, अपने अपने भेदोंसे अनन्त भेदरूप रत्नत्रय ही देव है, अतएव रत्नत्रयसे युक्त जीव भी देव है, अन्यथा (यदि रत्नत्रयकी अपेक्षा देवपना न माना जाय तो) संपूर्ण जीवोंको देवपना प्राप्त होनेकी आपत्ति आ जायगी । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि आचार्यादिक भी रत्नत्रयके यथायोग्य धारक होनेसे देव हैं, क्योंकि, अरिहंतादिकसे आचार्यादिकमें रत्नत्रयके सद्भावकी अपेक्षा कोई अन्तर नहीं है । अर्थात् जिसतरह अरिहंत और सिद्धोंके रत्नत्रय पाया जाता है, उसीप्रकार आचार्यादिकके भी रत्नत्रयका सद्भाव पाया जाता है । इसलिये आंशिक रत्नत्रयकी अपेक्षा इनमें भी देवपना बन जाता है ।

आचार्यादि परमेष्ठियोंमें स्थित तीन रत्नोंका सिद्ध परमेष्ठीमें स्थित रत्नोंसे भी भेद नहीं है । यदि दोनोंके रत्नत्रयमें सर्वथा भेद मान लिया जावे, तो आचार्यादिकमें स्थित रत्नोंके अभावका प्रसंग आवेगा । अर्थात् जब आचार्यादिकके रत्नत्रय सिद्ध परमात्माके रत्नत्रयसे भिन्न सिद्ध हो जावेंगे, तो आचार्यादिकके रत्न ही नहीं कहलावेंगे ।

आचार्यादिक और सिद्धपरमेष्ठीके सम्यग्दर्शनादिक रत्नोंमें कारण कार्यपनेसे भी भेद नहीं है, क्योंकि, आचार्यादिकमें स्थित रत्नोंके अवयवोंके रहने पर ही तिरोहित, अर्थात् कर्मपटलोंके कारण पर्यायरूपसे अप्रगट, दूसरे रत्नावयवोंका अपने आवरणकर्मके अभाव हो जानेके कारण आविर्भाव पाया जाता है । अर्थात् जैसे जैसे कर्मपटलोंका अभाव होता जाता है, वैसे ही

१. मु. रत्नाभोगस्य ।

स्वावरणविगमत आविर्भावोपलम्भात् । न परोक्षापरोक्षकृतो भेदः, वस्तुपरिच्छित्ति प्रत्येकत्वात् । नैकस्य ज्ञानस्यावस्थाभेदतो भेदः, निर्मलानिर्मलावस्थावस्थितदर्पणस्यापि भेदापत्तेः । नावयवावयविकृतो भेदः, अवयवस्यावयविनोऽव्यतिरेकात् । सम्पूर्णरत्नानि देवो न तदेकदेश इति चेन्न, रत्नैकदेशस्य देवत्वाभावे समस्तस्यापि तदसत्त्वापत्तेः । न चाचार्यादिस्थितरत्नानि कृत्स्नकर्मक्षयकर्तॄणि, रत्नैकदेशत्वादिति चेन्न, अग्निसमूह-

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कार्यस्य पलालराशिदाहस्य तत्कणादप्युपलम्भात् । तस्मादाचार्यादयोऽपि देवा इति स्थितम् ।

विगताशेषलेपेषु सिद्धेषु सत्स्वर्हतां सलेपानामादौ किमिति नमस्कारः क्रियत इति चेन्नैष दोषः, गुणाधिकसिद्धेषु श्रद्धाधिक्यनिबन्धनत्वात् । असत्यर्हत्याप्तागमपदार्थावगमो

वैसे अप्रगट रत्नोंके शेष अवयव अपने आप प्रगट होते जाते हैं । इसलिये उनमें कारण-कार्यपना भी नहीं बन सकता है । इसी प्रकार आचार्यादिक और सिद्धोंमें परोक्ष और प्रत्यक्ष-जन्य भी भेद नहीं है, क्योंकि, वस्तु-परिच्छित्तिकी अपेक्षा दोनों एक हैं । केवल एक ज्ञानके अवस्थाभेदसे भेद नहीं हो सकता है । यदि ज्ञानमें उपाधिकृत अवस्था-भेदसे भेद माना जावे, तो निर्मल और मलिन दशाको प्राप्त दर्पणमें भी भेद हो जायगा । इसी प्रकार आचार्यादिक और सिद्धोंके रत्नोंमें अवयव और अवयवी-जन्य भी भेद नहीं है, क्योंकि, अवयव अवयवीसे सर्वथा अलग नहीं रहते हैं ।

शंका— संपूर्ण रत्न अर्थात् पूर्णताको प्राप्त रत्नत्रय ही देव है, रत्नोंका एकदेश देव नहीं हो सकता ।

समाधान— ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि, रत्नोंके एकदेशमें देवपनाका अभाव होने पर रत्नोंकी समग्रतामें भी देवपना नहीं बन सकता है । अर्थात् जो कार्य जिसके एकदेशमें नहीं देखा जाता है वह उसकी समग्रतामें कहांसे आ सकता है ?

शंका— आचार्यादिकमें स्थित रत्नत्रय समस्त कर्मोंके क्षय करनेमें समर्थ नहीं हो सकते हैं, क्योंकि, उनके रत्न एकदेश हैं ।

समाधान— यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, जिस प्रकार पलाल-राशिका दाहरूप अग्नि-समूहका कार्य अग्निके एक कणसे भी देखा जाता है, उसी प्रकार यहां पर भी समझना चाहिये । इसलिये आचार्यादिक भी देव हैं, यह बात निश्चित हो जाती है ।

शंका— सर्व प्रकारके कर्म-लेपसे रहित सिद्ध-परमेष्ठीके विद्यमान रहते हुए अघातिया-कर्मोंके लेपसे युक्त अरिहंतोंको आदिमें नमस्कार क्यों किया जाता है ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, सबसे अधिक गुणवाले सिद्धोंमें श्रद्धाकी अधिकताके कारण अरिहंत परमेष्ठी ही हैं, अर्थात् अरिहंत परमेष्ठीके निमित्तसे ही अधिक गुणवाले सिद्धोंमें सबसे अधिक श्रद्धा उत्पन्न होती है । अथवा, यदि अरिहंत परमेष्ठी न होते तो हम लोगोंको आप्त, आगम और पदार्थका परिज्ञान नहीं हो सकता था । किंतु अरिहंत परमेष्ठीके

न भवेदस्मदादीनाम्, संजातश्चैतत्प्रसादादित्युपकारापेक्षया 'वादावर्हन्नमस्क्रियते[2]। न पक्षपातो दोषाय, शुभपक्षवृत्तेःश्रेयोहेतुत्वात्, अद्वैतप्रधाने गुणीभूतद्वैते द्वैतनिबन्धनस्य पक्षपातस्यानुपपत्तेश्च । आप्तश्रद्धाया आप्तागमपदार्थविषयश्रद्धाधिक्यनिबन्धनत्वख्यापनार्थं वार्हतामादौ नमस्कारः । उक्तं च——

जस्संतियं धम्मपहं[3] णिगच्छे तस्संतियं वेणइयं पउंजे ।
सक्कारए तं सिर-पंचएण[4] काएण वाया मणसा य णिच्चं[5] ॥ ३४ ॥

मंगलस्स कारणं गयं ।

संपहि णिमित्तमुच्चदे । कस्स णिमित्तं ? सुत्तावदारस्स । तं कधं जाणिज्जदि

प्रसादसे हमें इस बोधकी प्राप्ति हुई है । इसलिये उपकारकी अपेक्षा भी आदिमें अरिहंतोंको नमस्कार किया जाता है ।

यदि कोई कहे कि इस प्रकार आदिमें अरिहंतोंको नमस्कार करना तो पक्षपात है ? इसपर आचार्य उत्तर देते हैं कि ऐसा पक्षपात दोषोत्पादक नहीं है । किंतु शुभ पक्षमें रहनेसे यह [illegible] ही कारण है । [illegible] और [illegible] अद्वैतकी प्रधानतासे किये गये नमस्कारमें द्वैतमूलक पक्षपात बन भी तो नहीं सकता है ।

[illegible] - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

विशेषार्थ—— पक्षपात वहीं संभव है जहां दो वस्तुओंमेंसे किसी एककी ओर अधिक आकर्षण होता है । परंतु यहां परमेष्ठियोंको नमस्कार करनेमें दृष्टि प्रधानतया गुणोंकी ओर रहती है, अवस्थाभेदकी प्रधानता नहीं है । इसलिये यहां पक्षपात किसी प्रकार भी संभव नहीं है ।

अथवा आप्तकी श्रद्धासे ही आप्त, आगम और पदार्थोंके विषयमें दृढ श्रद्धा उत्पन्न होती है, इस बातके प्रसिद्ध करनेके लिये भी आदिमें अरिहंतोंको नमस्कार किया गया है । कहा भी है–

जिसके समीप धर्म-मार्ग प्राप्त करे उसके समीप विनय युक्त होकर प्रवृत्ति करनी चाहिये । तथा उसका, शिर-पंचक अर्थात् मस्तक, दोनों हाथ और दोनों जंघाएं इन पंचांगोंसे तथा काय, वचन और मनसे निरन्तर सत्कार करना चाहिये ।

इसतरह मंगलके कारणका वर्णन समाप्त हुआ । अब निमित्तका कथन करते हैं——

शंका—— यहां पर किसके निमित्तका कथन किया जाता है ?

समाधान—— यहां पर सूत्रावतार अर्थात् ग्रन्थके प्रारम्भ होनेके निमित्तका वर्णन किया जाता है ।

---

१. अरहंतुवएसेणं सिद्धा नज्जंति तेण अरहाई । न वि कोइ य परिसाए पणमित्ता पणमई रन्नो ॥
आ. नि. १०१५.

२. मु. वर्हन्नमस्कारः क्रियते ।　　३. मु. धम्मवहं ।

४. प्रतिषु 'पंचमेण' इति पाठः । दो जाणू दोण्णि करा पंचमंगं होइ उत्तमंगं तु । सम्मं संपणिवाओ णेओ पंचंगपणिवाओ ॥ पञ्चा. वि. ३, १५.

५. जस्संतिए धम्मपयाइ सिक्खे तस्संतिए वेणइयं पउंजे । सक्कारए सिरसा पंजलीओ कायग्गिरा भो मनसा अ निच्चं । द. वै. ९, १३.

सुत्तावदारस्स, ण अण्णस्सेति? पयरणादो । भोयण-वेलाए 'सेंधवमाणि' त्ति वयणादो लोण इव । बद्ध-बंध-बंधकारण-मुक्क-मोक्ख-मोक्खकारणाणि णिक्खेव-णय-प्पमाणाणियोग-द्दारेहि अहिगम्म भविय-जणो जाणदु त्ति सुत्तमोदिण्णं अत्थदो तित्थयरादो, गंथदो गणहरदेवादो त्ति ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

द्रव्यभावाभ्यामकृत्रिमत्वतः सदा स्थितस्य श्रुतस्य कथमवतार इति चेदेतत्सर्वमभविष्यद्यदि द्रव्यार्थिकनयोऽविवक्षिष्यत । पर्यायार्थिकनयापेक्षायामवतारस्तु पुनर्घटत एव ।

छद्दव्व-णव-पयत्थे सुय-णाणाइच्च-दिप्प-तेएण ।
पस्संतु भव्व-जीवा इय सुय-रविणो हवे उदयो[1] ॥ ३५ ॥

साम्प्रतं हेतुरुच्यते । तत्र हेतुर्द्विविधः, प्रत्यक्षहेतुः परोक्षहेतुरिति । कस्य हेतुः?

शंका— यह कैसे जाना जाता है कि यहां पर सूत्रावतारके निमित्तका कथन किया जाता है, अन्यका नहीं ।

समाधान— यह बात प्रकरणसे जानी जाती है । जैसे–भोजन करते समय 'सैन्धव लाओ' इस प्रकारके वचनसे सेंधे नमकका ही ज्ञान होता है, उसी प्रकार यहां पर भी समझ लेना चाहिये कि यहां पर ग्रन्थावतारके निमित्तका ही कथन किया जा रहा है ।

बद्ध, बन्ध, बन्धके कारण, मुक्त, मोक्ष और मोक्षके कारण, इन छह तत्वोंको निक्षेप, नय, प्रमाण और अनुयोगद्वारोंसे भलीभांति समझकर भव्यजन उनके ज्ञाता बनें, इसलिये यह सूत्र-ग्रन्थ अर्थ-प्ररूपणाकी अपेक्षा तीर्थंकरसे और ग्रन्थरचनाकी अपेक्षा गणधरदेवसे अवतीर्ण हुआ है ।

शंका— द्रव्य और भावसे अकृत्रिम होनेके कारण सर्वदा एकरूपसे अवस्थित श्रुतका अवतार कैसे हो सकता है ।

समाधान— यह शंका तो तब बनती जब यहां पर द्रव्यार्थिक नयकी विवक्षा होती । परंतु यहां पर पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा होनेसे श्रुतका अवतार तो बन ही जाता है ।

भव्य-जीव श्रुतज्ञानरूपी सूर्यके दीप्त तेजसे छह द्रव्य और नव पदार्थोंको देखें अर्थात भलीभांति जानें, इसलिये श्रुतज्ञानरूपी सूर्यका उदय हुआ है ॥ ३५ ॥

अब हेतुका कथन किया जाता है,

हेतु दो प्रकारका है, एक-प्रत्यक्ष हेतु और दूसरा परोक्ष हेतु ।

शंका— यहां पर किसके हेतुका कथन किया जाता है ?

---

१ छद्दव्वणवपयत्थे सुदणाणंदुमणिकिरणसत्तीए । देक्खंतु भव्वजीवा अण्णाणतमेण सच्छण्णा ॥
ति. प. १, ३४.

सिद्धान्ताध्ययनस्य । तत्र प्रत्यक्षहेतुर्द्विविधः, साक्षात्प्रत्यक्षपरम्पराप्रत्यक्षभेदात् । तत्र साक्षात्प्रत्यक्षमज्ञानविनाशः सज्ज्ञानोत्पत्तिर्देवमनुष्यादिभिः सततमभ्यर्चनं प्रतिसमयमसंख्यातगुणश्रेण्या कर्मनिर्जरा च[1] । कर्मणामसंख्यातगुणश्रेणिनिर्जरा केषां प्रत्यक्षेति चेन्न, अवधिमनःपर्ययज्ञानिनां सूत्रमधीयानानां तत्प्रत्यक्षतायाः समुपलम्भात् । तत्र परम्पराप्रत्यक्षं शिष्यप्रशिष्यादिभिः सततमभ्यर्चनम् । परोक्षं द्विविधम्, अभ्युदयं नैश्रेयसमिति । तत्राभ्युदयसुखं नाम सातादि-प्रशस्त-कर्म-तीव्रानुभागोदय-जनितेन्द्र-प्रतीन्द्र-सामानिक–त्रायस्त्रिंशदादि–देव–चक्रवर्ति–बलदेव–नारायणार्धमण्डलीक–मण्डलीक–महामण्डलीक-राजाधिराज-महाराजाधिराज-परमेश्वरादि-दिव्य-मानुष्य-सुखम्[2] ।

समाधान–– यहां पर सिन्द्धातके अध्ययनके हेतुका कथन किया जाता है ।

उन दोनों प्रकारके हेतुओंमेंसे प्रत्यक्ष हेतु दो प्रकारका है, साक्षात्प्रत्यक्ष हेतु और परंपरा-प्रत्यक्ष हेतु । उनमेंसे अज्ञानका विनाश, सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्ति, देव, मनुष्यादिके द्वारा निरन्तर पूजाका होना और प्रत्येक समयमें असंख्यात-गुणित-श्रेणीरूपसे कर्मोंकी निर्जराका होना साक्षात्प्रत्यक्ष हेतु (फल) समझना चाहिये ।

शंका–– कर्मोंकी असंख्यात-गुणित-श्रेणीरूपसे निर्जरा होती है, यह किनके प्रत्यक्ष है?

समाधान–– ऐसी शंका ठीक नहीं है ? क्योंकि, सूत्रका अध्ययन करनेवालोंकी असंख्यात-गुणित-श्रेणीरूपसे प्रतिसमय कर्म-निर्जरा होती है, यह बात अवधि-ज्ञानी और मनःपर्यय-ज्ञानियोंको प्रत्यक्षरूपसे उपलब्ध होती है ।

शिष्य, प्रतिशिष्यादिकके द्वारा निरन्तर पूजा जाना परंपरा-प्रत्यक्ष हेतु है । परोक्षहेतु दो प्रकारका है, एक अभ्युदयसुख और दूसरा नैश्रेयससुख । इनमेंसे साता-वेदनीय आदि प्रशस्त-कर्म-प्रकृतियोंके तीव्र अनुभागके उदयसे उत्पन्न हुआ इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश आदि देवसंबन्धी दिव्य-सुख और चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, अर्धमण्डलीक, मण्डलीक, महामण्डलीक, राजा, अधिराज, महाराजाधिराज, परमेश्वर आदि मनुष्य-सम्बन्धी मानुष्य-सुखको अभ्युदयसुख कहते हैं।

---

१. सक्खापच्चक्खपरंपच्चक्खा दोण्णि होंदि पच्चक्खा । अण्णाणस्स विणासं णाणदिवायरस्स उप्पत्ती ॥ देवमणुस्सादीहिं य सततमब्भच्चणप्पयाराणी । पडिसमयमसंखेज्जयगुणसेढिकम्मणिज्जरणं ॥
ति. प. १, ३६–३७.

२. इय सक्खापच्चक्खं पच्चक्खपरं परं च णादव्वं । सिस्सपडिसिस्सपहुदीहिं सददमब्भच्चणपयारं ॥ दोभेदं च परोक्खं अब्भुदयसोक्खा मोक्खसोक्खाइं । सादादिविविहसुपसत्थकम्मतिव्वाणुभागउदएहिं ॥ इंदपडिंददिगिंदियतेत्तीससामरसमाणपहुदिसुहं । राजाहिराजमहाराजद्धमंडलिमंडलयाणं ॥ महमंडलियाणं अद्धचक्किचक्कहरितित्थयरसोक्खं । अट्ठारसमेत्ताण सामीसेणेण भत्तिजुत्ताणं ॥ ति. प. १, ३८–४१.

अष्टादशसंख्यानां श्रेणीनामधिपतिर्विनम्राणाम् ।
राजा स्यान्मुकुटधरः कल्पतरुः सेवमानानाम् ॥ ३६ ॥

एत्थुवउज्जंतीओ गाहाओ---

हय-हत्थि-रहाणहिवा सेणावइ-मंति-सेट्ठि-दंडवई ।
सुद्द-क्खत्तिय-बम्हण-वइसा तह महयरा चेव ॥ ३७ ॥
गणरायमच्च-तलवर-पुरोहिया दप्पिया महामत्ता ।
अट्ठारह सेणीओ पयाइणा मेलिया होंति[1] ॥ ३८ ॥
पृतनाङ्ग-दण्डनायक-वर्ण-वणिग्भुग्-गणेड्-महामात्राश्च ।
मन्त्रि-पुरोहित-सेनान्यमात्य-तलवर-महत्तराः स्युः श्रेण्यः ॥ ३९ ॥
पञ्चशतनरपतीनामधिराजोऽधीश्वरो भवति लोके ।
राजसहस्राधिपतिः प्रतीयतेऽसौ महाराजः ॥ ४० ॥
द्विसहस्रराजनाथो मनीषिभिर्वर्ण्यतेऽर्धमण्डलिकः ।
मण्डलिकश्च तथा स्याच्चतुःसहस्रावनीशपतिः ॥ ४१ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जो नम्रीभूत अठारह श्रेणियोंका अधिपति हो, मुकुटको धारण करनेवाला हो और सेवा करनेवालोंके लिये कल्पवृक्षके समान हो उसे राजा कहते हैं ॥ ३६ ॥

यहां प्रकरणमें उपयोगी गाथाएं उद्धृत की जाती हैं ।

घोड़ा, हाथी, रथ इनके अधिपति, सेनापति, मन्त्री, श्रेष्ठी, दण्डपति, शूद्र, क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, महत्तर, गणराज, अमात्य, तलवर, पुरोहित, स्वाभिमानी महामात्य और पैदल सेना इसतरह सब मिलाकर अठारह श्रेणियां होती हैं ॥ ३७, ३८ ॥

अथवा हाथी, घोड़ा, रथ और पयादे ये चार सेनाके अंग, दण्डनायक; ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण, वणिक्पति, गणराज, महामात्र, मन्त्री, पुरोहित, सेनापति, अमात्य, तलवर और महत्तर ये अठारह श्रेणियां होती हैं ॥ ३९ ॥

लोकमें पांचसौ राजाओंके अधिपतिको अधिराज कहते हैं, और एक हजार राजाओंके अधिपतिको महाराज कहते हैं ॥ ४० ॥

पण्डितजन दो हजार राजाओंके स्वामीको अर्धमण्डलीक कहते हैं और चार हजार राजाओंके स्वामीको मण्डलीक कहते हैं ॥ ४१ ॥

१ वररयणमउडधारी सेवयमाणा णवंति दह अट्ठ । देंता हवेदि राजा जितसत्तू समरसंघट्टे ॥ करितुरय-रहाहिवई सेणावइ य मंति-सेट्ठि-दंडवई । सुद्दक्खत्तियवइसा हवंति तह महयरा पवरा ॥ गणरायमंतितलवर-पुरोहिया मंतया महामंता । बहुविहपइण्णया य अट्ठारसा होंति सेणीओ ॥ ति. प. १, ४२-४४.

अष्टसहस्रमहीपतिनायकमाहुर्बुधाः महामण्डलिकम् ।
षोडशराजसहस्रैर्विनम्यमानस्त्रिखण्डधरणीशः[1] ॥ ४२ ॥
षट्खण्डभरतनाथं द्वात्रिंशद्धरणीपतिसहस्राणाम् ।
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
दिव्यमनुष्यं विदुरिह भोगागारं सुचक्रधरम् ॥ ४३ ॥
सकलभुवनैकनाथस्तीर्थकरो वर्ण्यते मुनिवरिष्ठैः ।
विधुधवलचामराणां तस्य स्याद्वै चतुःषष्टिः ॥ ४४ ॥
तित्थयर-गणहरत्तं तहेव देविंद-चक्कवट्टित्तं ।
अण्णरिहमेवमाई अब्भुदय-सुहं[2] वियाणाहि[3] ॥ ४५ ॥

तत्र नैःश्रेयसं नाम सिद्धानामर्हतां चातीन्द्रियसुखम् । उक्तं च–

अदिसयमाद-समुत्थं विसयादीदं अणोवममणंतं ।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धुवजोगो य सिद्धाणं[4] ॥ ४६ ॥

बुधजन आठ हजार राजाओंके स्वामीको महामण्डलीक कहते हैं । और जिसे सोलह हजार राजा नमस्कार करते हैं उसे तीन खण्ड पृथिवीका अधिपति अर्थात् नारायण कहते हैं ॥ ४२ ॥

इस लोकमें बत्तीस हजार राजाओंसे सेवित, नव निधि आदिसे प्राप्त होनेवाले भोगोंके भण्डार, उत्तम चक्र-रत्नको धारण करनेवाले और भरतक्षेत्रके छह खण्डके अधिपतिको दिव्य मनुष्य अर्थात् चक्रवर्ती समझना चाहिये ॥ ४३ ॥

जिनके ऊपर चन्द्रमाके समान धवल चौसठ चँवर ढुरते हैं ऐसे सकल भुवन के अद्वितीय स्वामीको श्रेष्ठ मुनि तीर्थंकर कहते हैं ॥ ४४ ॥

इस लोकमें तीर्थंकरपना, गणधरपना, देवेन्द्रपना, चक्रवर्तिपना और इसी प्रकारके अन्य अर्ह अर्थात् पूज्य पदोंको अभ्युदयसुख समझना चाहिये ॥ ४५ ॥

अरिहंत और सिद्धोंके अतीन्द्रिय सुखको नैःश्रेयस सुख कहते हैं । कहा भी है—

अतिशयरूप, आत्मासे उत्पन्न हुआ, विषयोंसे रहित, अनुपम, अनन्त और विच्छेद-

---

१ पंचसयरायसामी अहिराजो होदि कित्तिभरिददिसो । रायाण जो सहस्सं पालइ सो होदि महराजो ॥ दुसहस्समउडबद्धभुवसहो तच्च अद्धमंडलिओ । चउराजसहस्साणं अहिणाहो होइ मंडलियं ॥ महमंडलिओ णामो अट्ठसहस्साण अहिवई ताणं । रायाणं अद्धचक्की सामी सोलससहस्समेत्ताणं ॥ ति. प. १, ४५–४७.

२ मु.–फलं ।

३ छक्खंडभरहणाहो बत्तीससहस्समउडबद्धपहुदीओ । होदि हु सयलचक्की तित्थयरो सयलभुवणवई ॥ ति. प. १, ४५. बलवासुदेवादीनां पराक्रमवर्णनाय किञ्चिदुच्यते, सोलसरायसहस्सा सव्वबलेणं तु संकलनिबद्धं । अच्छंति वासुदेवं अगडतडम्मी ठियं संतं ॥ घेत्तूण संकलं सो वामगहत्थेण अंछमाणाणं । भुंजिज्ज विलिपिज्ज व महुमहणं ते न चाएंति ॥ दो सोला बत्तीसा सव्वबलेणं तु संकलनिबद्धं । अच्छंति चक्कवट्टि अगडतडम्मी ठियं संतं ॥ जं केसवस्स उ बलं तं दुगुणं होइ चक्कवट्टिस्स । तत्तो बला बलवगा अपरिमियबला जिणवरिंदा ॥ आ. नि. ७१-७५.

४ प्रवच. १, १३. 'सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं' इति पाठभेदः ।

भाविय-सिद्धंताणं दिणयर-कर-णिम्मलं हवइ णाणं ।
सिसिर-यर-कर-सरिसं हवइ चरित्तं स-वस-चित्तं ॥ ४७ ॥
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
मेरु व्व णिप्पकंपं णट्ठ्ट्ठ-मलं ति-मूढ-उम्मुक्कं ।
सम्मद्दंसणमणुवममुप्पज्जइ पवयणब्भासा[1] ॥ ४८ ॥
तत्तो चेव सुहाइं सयलाइं देव-मणुय-खयराणं ।
उम्मूलियट्ठ-कम्मं फुड सिद्ध-सुहं पि पवयणादो[2] ॥ ४९ ॥
जिय[3]-मोहिंधण-जलणो अण्णाण-तमंधयार-दिणयरओ ।
कम्म-मल-कलुस-पुसओ जिण-वयणमिवोवही सुहयो ॥ ५० ॥
अण्णाण-तिमिर-हरणं-सुभविय-हिययारविंद-जोहणयं ।
उज्जोइय-सयल-वहं सिद्धंत-दिवायरं भजह[4] ॥ ५१ ॥

रहित सुख तथा शुद्धोपयोग सिद्धोंको होता है ॥ ४६ ॥

जिन्होंने सिद्धान्तका उत्तम प्रकारसे अभ्यास किया है ऐसे पुरुषोंका ज्ञान सुर्यकी किरणोंके समान निर्मल होता है और जिसमें अपने चित्तको स्वाधीन कर लिया है ऐसा चन्द्रमाकी किरणोंके समान चारित्र होता है ॥ ४७ ॥

प्रवचन अर्थात् परमागमके अभ्याससे मेरुके समान निष्कम्प, आठ मल-रहित, तीन मूढ़ताओंसे रहित और अनुपम सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है ॥ ४८ ॥

उस प्रवचनके अभ्याससे ही देव, मनुष्य और विद्याधरोंके सर्व सुख प्राप्त होते हैं, तथा आठ कर्मोंके उन्मूलित हो जानेके बाद प्राप्त होनेवाला विशद सिद्ध सुख भी प्रवचनके अभ्याससे ही प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

वह जिनागम जीवके मोहरूपी ईंधनको भस्म करनेके लिये अग्निके समान है, अज्ञानरूपी गाढ़ अन्धकारको नष्ट करनेके लिये सूर्यके समान है, कर्ममल अर्थात् द्रव्यकर्म, और कर्मकलुष अर्थात् भावकर्मको मार्जन करनेवाला समुद्रके समान है और परम सुभग है ॥ ५० ॥

अज्ञानरूपी अन्धकारको हरण करनेवाले, भव्यजीवोंके हृदयरूपी कमलको विकसित करनेवाले और संपूर्ण जीवोंके लिये पथ अर्थात् मोक्षमार्गको प्रकाशित करनेवाले ऐसे सिद्धान्तरूपी दिवाकरको भजो ॥ ५१ ॥

१. सोक्खं तित्थयराणं कप्पातीदाण तह य इंदियादीदं । अदिसयमादसमुत्थं णिस्सेयसमणुवमं पवरं ॥ सुदणाणभावणाए णाणं मत्तंड-किरण-उज्जोओ । आदं चंदुज्जलं चरित्तं चित्तं हवेदि भव्वाणं ॥ कणयधराधरधीरं मूढत्तयविरहिदं हयट्ठमलं । जायदि पयवणपढणे सम्मद्दंसणमणुवमं णं ॥ ति. प. १, ४९–५१.

२. सुरखेयरमणुवाणं लब्भंति सुहाइ आरिसंभासा । तत्तो णिव्वाणसुहं णिण्णासिदधातुणट्ठमलं । ति. प. १, ५२.

३. ' ब. ' प्रतौ ' जियमोहिंधणजलणो ' इत्यादि गाथाद्वयं नास्ति ।

४. गाथाङ्के ५०-५१ तमे ताप्रतौ न स्तः ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अथवा जिनपालितो निमित्तम्, हेतुर्मोक्षः, शिक्षकाणां हर्षोत्पादनं निमित्त-हेतुकथने प्रयोजनम् । परिमाणमुच्चदे - अक्खर-पय-संघाय-पडिवत्ति-अणियोगद्दारेहि संखेज्जं, अत्थदो अणंतं । पदं पडुच्च अट्ठारह-पद-सहस्सं । शिक्षकाणां हर्षोत्पादनार्थं मतिव्याकुलता-विनाशनार्थं च परिमाणमुच्यते[1] । णामं जीवट्ठाणमिदि । कारणं पुव्वं व वत्तव्वं ।

तत्थ कत्ता दुविहो[2]– अत्थ-कत्ता गंथ-कत्ता चेदि। तत्थ अत्थ-कत्ता दव्वादीहि चउहि परूविज्जदि । तत्र तस्य तावद् द्रव्यनिरूपणं क्रियते, स्वेद-रजो-मल-रक्तनयन-कटाक्षशरमोक्षादि–शरीरगताशेषदोषादूषित–समचतुरस्रसंस्थान–वज्रवृषभसंहनन-दिव्यगन्ध-प्रमाणस्थितनखरोम-निर्भूषणायुधाम्बरभय-सौम्यवदनादि-विशिष्टदेहधरः

अथवा, जिनपालित इस श्रुतावतारके निमित्त हैं और उसका हेतु मोक्ष है, अर्थात् मोक्षके हेतु जिनपालितके निमित्तसे इस श्रुतका अवतार हुआ है । यहां पर निमित्त और हेतुके कथन करनेसे पाठकजनोंको हर्षका उत्पन्न करना ही प्रयोजन है ।

अब परिमाणका व्याख्यान करते हैं, अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति, और अनुयोग द्वारोंकी अपेक्षा श्रुतका परिमाण संख्यात है और अर्थ अर्थात् तद्वाच्य विषयकी अपेक्षा अनन्त है । पदकी अपेक्षा अठारह हजार प्रमाण है । शिक्षकजनोंको हर्ष उत्पन्न करानेके लिये और मतिसंबन्धी व्याकुलता दूर करनेके लिये यहां पर परिमाण कहा गया है ।

नाम– इस शास्त्रका नाम जीवस्थान है ।

कारण– कारणका व्याख्यान पहले कर आये हैं। उसी प्रकार यहांपर भी उसका व्याख्यान करना चाहिये ।

कर्ताके दो भेद हैं, अर्थकर्ता और ग्रन्थकर्ता । इनमेंसे अर्थकर्ताका द्रव्यादिक चार के द्वारा निरूपण किया जाता है । उनमेंसे पहले द्रव्यकी अपेक्षा अर्थकर्ताका निरूपण करते हैं—

पसीना, रज अर्थात् बाह्य कारणोंसे शरीरमें उत्पन्न हुआ मल, मल अर्थात् शरीरसे उत्पन्न हुआ मल, रक्त-नेत्र और कटाक्षरूप बाणोंका छोड़ना आदि शरीरमें होनेवाले संपूर्ण दोषोंसे रहित, समचतुरस्र संस्थान, वज्रवृषनाराच संहनन, दिव्य-सुगन्धमयी, सदैव योग्य प्रमाणरूप नख और रोमवाले, आभूषण, आयुध, वस्त्र और भयरहित सौम्य-मुख आदिसे

---

१. तिविहत्थेहि अणंतं संखेज्जं अक्खराणगणणाए । एदं पमाणमुदिदं सिस्साणं मइविकासयरं ॥ ति. प. १, ५३.

२. कत्तारो दुवियप्पो णादव्वो अत्थगंथभेदेहि । दव्वादिचउप्पयारेहिं भासिमो अत्थकत्तारो ॥ सेदरजाइमलेणं रत्तच्छिकडुक्खबाणमोक्खेहिं । इयपहुदिदेहदोसेहिं संततमदूसिदसरीरो ॥ आदिमसंहणणजुदो समचउरस्संगचारुसंठाणो । दिव्ववरगंधधारी पमाणट्ठिदरोमणखरूवो ॥ णिब्भूसणायुधंबरभीदी सोम्माणणा-दिदिव्वतणू । अट्ठब्भहियसहस्सपमाणवरलक्खणोपेदो ॥ चउविहउवसग्गेहिं णिच्च विमुक्को कसायपरिहीणो । छुहपहुदिपरिसहेहिं परिचत्तो रायदोसेहिं ॥ ति. प. १, ५५–५९.

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

चतुर्विधोपसर्गक्षुधादिपरिषह-रागद्वेषकषायेन्द्रियादिसकलदोषगोचरातिक्रान्तः योजनान्तरदूरसमीपस्थाष्टादशभाषा-सप्तशतकुभाषायुत-तिर्यग्देवमनुष्यभाषाकार-न्यूनाधिकभावातीतमधुरमनोहरगम्भीरविशदवागतिशयसम्पन्नः भवनवासिवाणव्यन्तर-ज्योतिष्क-कल्पवासीन्द्र[1]-विद्याधर-चक्रवर्ति-बल–नारायण-राजाधिराज-महाराजार्ध-महामण्डलीकेन्द्राग्नि-वायु-भूति-सिंह-व्यालादि– देव-विद्याधर–मनुष्यर्षि–तिर्यगिन्द्रेभ्यः प्राप्तपूजातिशयो महावीरोऽर्थकर्ता ।

तत्थ खेत्त-विसिट्ठोत्थ-कत्ता परूविज्जदि—

पंच-सेल-पुरे रम्मे विउले पव्वदुत्तमे ।
णाणा-दुम-समाइण्णे देव-दाणव-वंदिदे[2] ॥ ५२ ॥
महावीरेणत्थो कहिओ भविय-लोयस्स ।

अत्रोपयोगिनौ श्लोकौ—

युक्त ऐसे विशिष्ट शरीरको धारण करनेवाले, देव, मनुष्य, तिर्यंच और अचेतनकृत चार प्रकारके उपसर्ग, क्षुधा आदि बावीस परीषह, राग, द्वेष, कषाय और इन्द्रिय-विषय आदि संपूर्ण दोषोंसे रहित, एक योजनके भीतर दूर अथवा समीप बैठे हुए अठारह महाभाषा और सातसौ लघुभाषाओंसे युक्त ऐसे तिर्यंच, देव और मनुष्योंकी भाषाके रूपमें परिणत होनेवाली तथा न्यूनता और अधिकतासे रहित, मधुर, मनोहर, गम्भीर और विशद ऐसी भाषाके अतिशयको प्राप्त, भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क, कल्पवासी देवोंके इन्द्रोंसे, विद्याधर, चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, राजा, अधिराज, महाराज, अर्धमण्डलीक, मण्डलीक, महामण्डलीक राजाओंसे, इन्द्र, अग्नि, वायु, भूति, सिंह, व्याल आदि, देव तथा विद्याधर-मनुष्य-ऋषि और तिर्यंचोंके इन्द्रोंसे पूजाके अतिशयको प्राप्त श्री महावीर तीर्थंकर अर्थकर्ता समझना चाहिये ।

अब क्षेत्र-विशिष्ट अर्थकर्ताका निरूपण करते हैं—

पंचशैलपुरमें (पंचपहाड़ी अर्थात् पांच पर्वतोंसे शोभायमान राजगृह नगरके पास) रमणीक, नानाप्रकारके वृक्षोंसे व्याप्त, देव तथा दानवोंसे वन्दित और सर्व पर्वतोंमें उत्तम ऐसे विपुलाचल नामके पर्वतके ऊपर भगवान् महावीरने भव्य-जीवोंको अर्थका उपदेश दिया अर्थात् दिव्य-ध्वनिके द्वारा जीवादि पदार्थों और मोक्षमार्ग आदिका उपदेश दिया ॥ ५२ ॥

इसविषयमें दो उपयोगी श्लोक हैं—

---

१. जोयणपमाणसंठिदतिरियामरमणुवनिवहपडिबोहो । मिदमधुरगभीरतरा विसदविसयसयलभासाहिं ॥ अट्ठरसमहाभासा खुल्लयभासा वि सत्तसयसंखा । अक्खरअणक्खरप्पयसण्णीजीवाण सलयभासाओ ॥ एदासिं भासाणं तालुवदंतोट्ठकंठवावारं । परिहरिय एक्ककालं भव्वजणाणंदकरभासो ॥ भावणवेंतरजोइसियकप्पवासेहिं केसवबलेहिं । विज्जाहरेहिं चक्किप्पमुहेहिं णरेहिं तिरिएहिं ॥ एदेहिं अण्णेहिं विरचिदचरणारविंदजुगपूजो । दिट्ठसयलट्ठसारो महवीरो अत्थकत्तारो ॥ ति. प. १, ६०–६४.

२. जयधवलायां गाथेयं ' सिद्धचारणसेविदे ' इति चतुर्थचरणपाठभेदेनोपलभ्यते । सुरखेयरमणहरणे गुणणामे पंचसेलणयरम्मि । विउलम्मि पव्वदवरे वीरजीणो अट्ठकत्तारो ॥ ति. प. १, ६५. ईरेइ विसेसेण क्खवेइ कम्माइं गमयइ सिवं वा । गच्छइ य तेण वीरो स महं वीरो महावीरो ॥ वि. भा. १०६५.

ऋषिगिरिरैन्द्राशायां[1] चतुरस्रो याम्यदिशि च वैभारः ।
विपुलगिरिर्नैऋत्यामुभौ त्रिकोणौ स्थितौ तत्र[2] ॥ ५३ ॥

धनुराकारश्छिन्नो वारुणवायव्यसौम्यदिक्षु ततः ।
वृत्ताकृतिरैशान्यां पाण्डुः सर्वे कुशाग्रवृताः[3] ॥ ५४ ॥

एसो खेत्त-परिच्छेदो ।

तत्थ कालदो अत्थ-कत्ता परूविज्जदि––

इमिसे[4] वसप्पिणीए चउत्थ-समयस्स पच्छिमे भाए ।
चोत्तीस-वास-सेसे किंचि विसेसूणए संते[5] ॥ ५५ ॥

पूर्व दिशामें चौकोर आकारवाला ऋषिगिरि नामका पर्वत है । दक्षिण दिशामें वैभार और नैऋत दिशामें विपुलाचल नामके पर्वत हैं । ये दोनों पर्वत त्रिकोण आकारवाले हैं ॥५३॥

पथदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

पश्चिम, वायव्य और सौम्य दिशामें धनुषके आकारवाला फैला हुआ छिन्न नामका पर्वत है । ऐशान दिशामें वृत्ताकार पाण्डु नामका पर्वत हैं । ये सब पर्वत कुशके अग्रभागोंसे ढके हुए हैं ॥ ५४ ॥

यह क्षेत्र-परिच्छेद समझना चाहिये ।

अब कालकी अपेक्षा अर्थकर्ताका निरूपण करते हैं—

इस अवसर्पिणी कल्पकालके दुःषमा-सुषमा नामके चौथे कालके पिछले भागमें कुछ कम चौतीस वर्ष बाकी रहनेपर, वर्षके प्रथममास अर्थात् श्रावण मासमें, प्रथमपक्ष अर्थात्

---

१. जयधवलायां 'भूगिरि' इति पाठः ।

२. चउरस्सो पुव्वाए रिसिसेलो दाहिणाए वेभारो । णइरिदिदिसाए विउलो दोण्णि तिकोणट्ठिदायारा ॥ ति. प. १, ६६.

३. धनुराकारश्चन्द्रो वारुणवायव्यसामदिक्षु ततः । वृत्ताकृतिरीशाने पांडुः सर्वे कुशाग्रवृताः । जयध. अ. पृ. ९. चावसरिच्छो छिण्णो वरुणाणिलसोमदिसविभागेसु । ईसाणाए पंडुव वट्टो सव्वे कुसग्गपरियरणा ॥ ति. प. १, ६७. ऋषिपूर्वो गिरिस्तत्र चतुरस्रः सनिर्झरः । दिग्गजेन्द्र इवेन्द्रस्य ककुभं भूषयत्यलम् ॥ वैभारो दक्षिणामाशां त्रिकोणाकृतिराश्रितः । दक्षिणापरदिङ्मध्यं विपुलश्च तदाकृतिः ॥ सज्यचापाकृतिस्तिस्रो दिशो व्याप्य बलाहकः । शोभते पाण्डुको वृत्तः पूर्वोत्तरदिगन्तरे ॥ ह. पु. ३, ५३–५५.

४. मु. इम्मिस्से ।

५. एत्थावसप्पिणीए चउत्थकालस्स चरिमभागम्मि । तेत्तीसवासअडमासपण्णरसदिवससेसम्मि ॥

वासस्स पढम-मासे पढमे पक्खम्हि सावणे बहुले ।
पाडिवद-पुव्व-दिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजिम्हि[1] ॥ ५६ ॥
सावण-बहुल-पडिवदे रुद्द-मुहुत्ते सुहोदए रविणो ।
अभिजिस्स पढम-जोए एत्थ[2] जुगाई[3] मुणेयव्वो[4] ॥ ५७ ॥

एसो कालपरिच्छेदो ।

भावतोऽर्थकर्ता निरूप्यते – ज्ञानावरणादि-निश्चय-व्यवहारापायातिशयजातानन्तज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य-क्षायिक-सम्यक्त्व-दान-लाभ-भोगोपभोग-निश्चय-व्यवहार-प्राप्त्यतिशयभूत-नव-केवल-लब्धि-परिणतः[5] । उक्तं च––

कृष्णपक्षमें, प्रतिपदाके दिन प्रातःकालके समय आकाशमें अभिजित् नक्षत्रके उदित रहने पर तीर्थ अर्थात् धर्मतीर्थकी उत्पत्ति हुई ॥ ५६ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

श्रावणकृष्ण-प्रतिपदाके दिन रुद्रमूहूर्तमें सूर्यका शुभ उदय होने पर और अभिजित् नक्षत्रके प्रथम योगमें जब युगकी आदि हुई तभी तीर्थ की उत्पत्ति समझना चाहिये ॥ ५७ ॥

यह काल-परिच्छेद हुआ ।

अब भावकी अपेक्षा अर्थकर्ताका निरूपण करते हैं––

ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके निश्चय-व्यवहाररूप विनाश कारणोंकी विशेषतासे उत्पन्न हुए अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य तथा क्षायिक-सम्यक्त्व, दान, लाभ, भोग और उपभोगकी निश्चय-व्यवहाररूप प्राप्तिके अतिशयसे प्राप्त हुई नौ केवल-लब्धियोंसे परिणत भगवान् महावीरने भावश्रुतका उपदेश दिया । अर्थात् निश्चय और व्यवहारसे अभेद-भेदरूप नौ लब्धियोंसे युक्त होकर भगवान् महावीरने भावश्रुतका उपदेश दिया । कहा भी है––

---

१. वासस्स पढममासे सावणणामम्मि बहुलपडिवाए । अभिजीणक्खत्तम्मि य उप्पत्ती धम्मतित्थस्स ॥ ति. प. १, ६८–६९.

२. मु. जत्थ ।

३. जुगाइ (युगादि) युगारम्भे, युगारम्भकाले प्रथमतः प्रवृत्ते मासि तिथिमुहूर्तादौ च । आदी जुगस्स संवच्छरो उ मासस्स अद्धमासो उ । दिवसा भरहेरवए राईया सह विदेहेसु ॥ युगस्य × × संवत्सर-पंचकात्मकस्यादिः संवत्सरः । स च श्रावणतः आषाढपौर्णमासीचरमसमयः । ततः प्रवर्तमानः श्रावण एव भवति । तस्यापि च मासस्य श्रावणस्यादिरर्धमासः पक्षः पक्षद्वयमीलनेन मासस्य संभवात् । सो पि च पक्षो बहुलो वेदितव्यः पौर्णमास्यनन्तरं बहुलपक्षस्यैव भावात् । × × । दिवसाइ अहोरत्ता बहुलाईयाणि होंति पव्वाणि । अभिई नक्खत्ताई रुद्दो आई मुहुत्ताणं ॥ सावण-बहुलपडिवए बालवकरणे अभिइनक्खत्ते । सव्वत्थ पढमसमए जुगस्स आइं वियाणाहि ॥ ज्यो. क. २ पाहुड । वक्ष्यन्ते ये च कालांशाः सुषमसुषमादयः । आरम्भं प्रतिपद्यन्ते सर्वे तेऽपि युगादितः ॥ लो. प्र. २५, ४७१.

४. सावणबहुले पाडिव रुद्दमुहुत्ते सुहोदए रविणो । अभिजिस्स पढम जोए जुगस्स आदी इमस्स पुढं ॥ ति. प. १, ७०. श्रावणस्यासिते पक्षे नक्षत्रेऽभिजिति प्रभुः । प्रतिपद्यह्नि पूर्वाह्णे शासनार्थमुदाहरत् ॥ ह. पु. २, ९१.

५. णाणावरणप्पहुदि अ णिच्छयववहारपायअतिसयए । संजादेण अणंतं णाणेणं दंसणसुहेण ॥ विरिएण तहा खाइयसम्मत्तेणं पि दाणलाहेहिं । भोगोपभोगणिच्छयववहारेहिं च पुरिपुण्णो ॥ ति. प. ७१, ७२.

दाणे लाभे भोगे परिभोगे वीरिए य सम्मत्ते ।
णव केवल-लद्धीओ दंसण-णाणं चरित्ते य ॥ ५८ ॥[१]
खीणे दंसण-मोहे चरित्त-मोहे तहेव[२] घाइ-तिए ।
सम्मत्त-विरिय-णाणं खइयाइं होंति केवलिणो[३] ॥ ५९ ॥
उप्पण्णम्हि अणंते णट्ठम्मि य छादुमत्थिए णाणे ।
णव-विह-पयत्थ-गब्भा दिव्वज्झुणी कहेइ सुत्तट्ठं[४] ॥ ६० ॥

एवंविधो महावीरोऽर्थकर्ता । तेण महावीरेण केवलणाणिणा कहिदत्थो तम्हि चेव काले तत्थेव खेत्ते खयोवसम-जणिद-चउरमल-बुद्धि-संपण्णेण बम्हणेण गोदम-गोत्तेण सयलदुस्सुदि-पारएण जीवाजीव-विसय-संदेह[६]-विणासणट्ठमुवगय-वड्ढमाण-पाद-मूलेण इंदभूदिणावहारिदो[५] । उत्तं च---

दान, लाभ, भोग, परिभोग, वीर्य, सम्यक्त्व, दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये नव केवल-लब्धियाँ हैं मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयके क्षय हो जानेपर तथा शेष तीन घातिया कर्मोंके क्षय हो जानेपर केवलीजिनके सम्यक्त्व, वीर्य और ज्ञान ये क्षायिक भाव प्रगट होते हैं ॥५९॥

क्षायोपशमिक ज्ञानके नष्ट हो जानेपर और अनन्तरूप केवलज्ञानके उत्पन्न हो जानेपर नौ प्रकारके पदार्थोंसे गर्भित दिव्यध्वनि सूत्रार्थका प्रतिपादन करती हैं । अर्थात् केवलज्ञान हो जानेपर भगवान्की दिव्यध्वनि खिरती है ॥ ६० ॥

इस प्रकार भगवान् महावीर अर्थ-कर्ता हैं । इस प्रकार केवलज्ञानसे विभूषित उन भगवान् महावीरके द्वारा कहे गये अर्थको, उसी कालमें और उसी क्षेत्रमें क्षयोपशमविशेषसे उत्पन्न हुए चार प्रकारके निर्मल ज्ञानसे युक्त, वर्णसे ब्राह्मण, गोतमगोत्री, संपूर्ण दुःश्रुतिमें पारंगत, और जीव-अजीवविषयक संदेहको दूर करनेके लिये श्री वर्द्धमानके पादमूलमें उपस्थित हुए ऐसे इन्द्रभूतिने अवधारण किया । कहा भी है---

---

१. ब. प्रतौ गाथेयं नास्ति ।　　२. मु. चउक्क ।

३. खीणे दंसणमोहे चरित्तमोहे तहेव घाइतिए । सम्मत्तणाणविरिया खइया ते होंति केवलिणो ॥ जयध. अ. पृ. ८. दंसणमोहे णट्ठे घादित्तिदए चरित्तमोहम्मि । सम्मत्तणाणदंसणवीरियचरियाइ होंति खइयाइं ॥ ति. प. १, ७३.

४. जादे अणंतणाणे णट्ठे छदुमट्ठिदम्मि णाणम्मि । णवविहपदत्थसारा दिव्वज्झुणी कहइ सुत्तत्थं ॥ अण्णेहिं अणंतेहिं गुणेहिं जुत्तो विसुद्धचारित्तो । भवभयभंजणदच्छो महवीरो अत्थकत्तारो ॥ ति. प. १, ७४-७५.

५. महवीरभासियत्थो तस्सि खेत्तम्मि तत्थकाले य । खायोवसमविवड्ढिदचउरमलमईहिं पुण्णेणं ॥ लोयालोयाण तहा जीवाजीवाण विविहविसएसु । संदेहणासणत्थं उवगदसिरिवीरचलणमूलेण ॥ विमले गोदमगोत्ते जादेणं इंदभूदिणामेणं । चउवेदपारगेणं सिस्सेण विसुद्धसीलेण ॥ ति. प. १, ७६-७८.

६. मिथ्यादृष्टयवस्थायामिन्द्रभूतिः सकलवेदवेदाङ्गपारगः सन्नपि जीवास्तित्वविषये संदिग्ध एवासीत् ।

गोत्तेण गोदमो[1] विप्पो चाउव्वेय-सडंगवि ।
णामेण इंदभूदि त्ति सीलवं बम्हणुत्तमो ॥ ६१ ॥

पुणो तेणिंदभूदिणा भाव-सुद-पज्जय-परिणदेण बारहंगाणं चोद्दस-पुव्वाणं च गंथाणमेक्केण चेव मुहुत्तेण कमेण रयणा कदा[2] । तदो भाव-सुदस्स अत्थ-पदाणं च तित्थयरो कत्ता । तित्थयरादो सुद-पज्जाएण गोदमो परिणदो त्ति दव्व-सुदस्स गोदमो कत्ता । तत्तो गंथ-रयणा जादेत्ति । तेण वि[3] गोदमेण दुविहमवि सुदणाणं लोहज्जस्स संचारिदं । तेण वि जंबूसामिस्स संचारिदं । परिवाडिमस्सिदूण एदे तिण्णि वि सयल-सुद-धारया भणिया । अपरिवाडिए पुण सयल-सुद-पारगा संखेज्ज-सहस्सा ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

गौतमगोत्री, विप्रवर्णी, चारों वेद और षडंगविद्याका पारगामी, शीलवान् और ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ ऐसा वर्द्धमानस्वामीका प्रथम गणधर इन्द्रभूति इस नामसे प्रसिद्ध हुआ ॥ ६१ ॥

अनन्तर भावश्रुतरूप पर्यायसे परिणत उस इन्द्रभूतिने बारह अंग और चौदह पूर्वरूप ग्रन्थोंकी एक ही मुहूर्तमें क्रमसे रचना की । अतः भावश्रुत और अर्थ-पदोंके कर्ता तीर्थंकर हैं । तथा तीर्थंकरके निमित्तसे गौतम गणधर श्रुतपर्यायसे परिणत हुए, इसलिये द्रव्यश्रुतके कर्ता गौतम गणधर हैं। इसतरह गौतम गणधरसे ग्रन्थरचना हुई । उन गौतम गणधरनेभी दोनों प्रकारका श्रुतज्ञान लोहार्यको दिया । लोहार्यनेभी जम्बूस्वामीको दिया । परिपाटी-क्रमसे ये तीनों ही सकलश्रुतके धारण करनेवाले कहे गये हैं । और यदि परिपाटी-क्रमकी अपेक्षा न की जाय तो उस समय संख्यात हजार सकलश्रुतके धारी हुए ।

प्रश्नानन्तरं समवसरणं समभ्येत्य प्रवृज्य च श्रीवर्धमानस्वामिनं पप्रच्छ किं जीवोऽस्ति नास्ति वा किंगुणः कियान् कीदृग् ?' तदा जीवोऽस्त्यनादिनिधनः शुभाशुभविभेदकर्मणां कर्ता । × × इत्याद्यनेकभेदैस्तथा स जीवादिवस्तु सद्भावम् । दिव्यध्वनिना स्फुटमिन्द्रभूतये सन्मतिरवोचत् । इन्द्र. श्रुता. ४५–६४. देवैः क्रियमाणां समवसरणलक्षणां महिमां दृष्ट्वाऽमर्षितः सन्निन्द्रभूतिर्भणति–भो भो ब्राह्मणवराः ! मां मुक्त्वा किमेष नागरलोकस्तस्य कस्यचित्पादमूलं धावति ? ननु महत्कुतूहलं कथयतात्रनिबन्धनमिति महाप्रलयमेघ इव गर्जित्वा समवसरणं प्रविष्टो वादार्थम् । परं च तत्र श्रीवीरं दृष्ट्वा हतप्रभ इव सशङ्कितः सन् पुरतः स्थितः । तदा भगवता वीरेणाभाषितः ' किं मन्ने अत्थि जीवो उयाहु नत्थि त्ति संसओ तुज्झ । वेयपयाण य अत्थं ण याणसी तेसिमो अत्थो ' (आ. नि. १५०) ततश्च निःसंशयः सन्नसौ प्रव्रजितः । वि. भा. २०१८–२०८३.

१. गोतमा गौः प्रकृष्टा स्यात् सा च सर्वज्ञभारती । तां वेत्ति तामधीष्टे च त्वमतो गौतमो मतः ॥ गोतमादागतो देवः स्वर्गाग्राद्गौतमो मतः । तेन प्रोक्तमधीयानस्त्वञ्चासीर्गौतमश्रुतिः ॥ इन्द्रेण प्राप्तपूजर्द्धिरिन्द्रभूतिस्त्वमिष्यसे । साक्षात्सर्वज्ञपुत्रस्त्वमाप्तसंज्ञानकण्ठिकः ॥ आ. पु. २, ५२–५४.

२. भावसुदपज्जएहिं परिणदमइणा य बारसंगाणं । चोद्दसपुव्वाण तहा एक्कमुहुत्तेण विरचणा विहिदा । ति. प. १, ७९.

३. मु. तेण गोदमेण ।

गोदमथेरो[1] लोहज्जाइरियो[2] जंबूसामी य एदे तिण्णि वि सत्त-विह-लद्धि-संपण्णा सयल-सुय-सायर-पारया होऊण केवलणाणमुप्पाइय णिव्वुइं पत्ता[3]। तदो विण्हू णंदिमित्तो अवराइदो गोवद्धणो भद्दबाहु त्ति एदे पुरिसोली-कमेण पंच[4] वि चोद्दस-पुव्व-हरा। तदो विसाहाइरियो पोट्ठिलो खत्तियो जयाइरियो णागाइरियो सिद्धत्थथेरो[5] धिदिसेणो विजयाइरियो बुद्धिल्लो गंगदेवो धम्मसेणो त्ति एदे[6] पुरिसोली-कमेण एक्कारस वि आइरिया एक्कारसण्हमंगाणं उप्पायपुव्वादि-दसण्हं पुव्वाणं च पारया जादा, सेसुवरिम-चदुण्हं पुव्वाणमेग-देस-धरा य। तदो णक्खत्ताइरियो जयपालो पांडुसामी धुवसेणो[7] कंसाइरियो त्ति एदे पुरिसोली-कमेण पंच[8] वि आइरिया एक्कारसंग-धारया जादा, चोद्दसण्हं पुव्वाणमेग-देस-धरा य। तदो सुभद्दो जसभद्दो[9] जसबाहू[10] लोहज्जो त्ति एदे चत्तारि[11] वि आइरिया आयारंग-धरा

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

गौतमस्थविर, लोहाचार्य और जम्बूस्वामी ये तीनों ही सात प्रकारकी ऋद्धियोंसे युक्त और सकल-श्रुतरूपी सागरके पारगामी होकर अन्तमें केवलज्ञानको उत्पन्न कर निर्वाणको प्राप्त हुए। इसके बाद विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन, और भद्रबाहु ये पांचों ही आचार्य परिपाटी-क्रमसे चौदह पूर्वके धारी हुए।

तदनन्तर विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयाचार्य, नागाचार्य, सिद्धार्थस्थविर, धृतिसेन, विजयाचार्य, बुद्धिल्ल, गंगदेव और धर्मसेन ये ग्यारह ही महापुरुष परिपाटी-क्रमसे ग्यारह अंग और उत्पादपूर्व आदि दश पूर्वोंके धारक तथा शेष उपरिम चार पूर्वोंके एकदेशके धारक हुए।

इसके बाद नक्षत्राचार्य, जयपाल, पाण्डुस्वामी, ध्रुवसेन, कंसाचार्य ये पांचों ही आचार्य परिपाटी-क्रमसे संपूर्ण ग्यारह अंगोंके और चौदह पूर्वोंके एकदेशके धारक हुए। तदनन्तर सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहार्य ये चारों ही आचार्य संपूर्ण आचारांगके धारक और

१. मु. गोदमदेवो।

२. जयधवलायामिन्द्रनन्दिश्रुतावतारे च लोहार्यस्य स्थाने सुधर्माचार्यस्योल्लेखोऽस्ति। तद्यथा-तदो तेण गोअमगोत्तेण इंदभूदिणा अंतोमुहुत्तेणावहारियदुवालसंगत्थेण तेणेव कालेण कयदुवालसंगगंथरयणेण गुणेहि सगसमाणस्स सुहुमाइरियस्स गंथो वक्खाणिदो। जयध. अ. पृ. ११. प्रतिपादितं ततस्तच्छ्रुतं समस्तं महात्मना तेन। प्रथितात्मीयसधर्मणे सुधर्माभिधानाय॥ इन्द्र. श्रुता. ६७.

३. वासट्ठि वरिसकालो अणुवट्टिय तिण्णि केवलिणो। ब्र. श्रु. ६७.

४. एदेसिं पंचण्हं पि सुदकेवलीणं कालो वस्ससदं १००। जयध. अ. पृ. ११.

५. मु. सिद्धत्थदेवो।

६. तेसिं कालो तिसीदिसदवस्साणि १८३। जयध. अ. पृ. ११.

७. 'द्रुमसेनः' इति पाठः। इन्द्र. श्रुता. ८१.

८. एदेसिं कालो वीसुत्तरविसदवासमेत्तो २२०। जयध. अ. पृ. ११.

९. 'अभयभद्रः' इति पाठः। इन्द्र. श्रुता. ८३.

१०. 'जहबाहू' इति पाठः। जयध. अ. पृ. ११. 'जयबाहुः' इति पाठः। इन्द्र. श्रुता. ८३.

११. एदेसिं × × कालोअट्ठारसुत्तरं वाससदं ११८. जयध. अ. पृ, ११.

सेसंग-पुव्वाणमेग-देस-धरा य[1]। तदो [2]सव्वेसिमंग-पुव्वाणमेग-देसो आइरिय-परंपराए आगच्छमाणो धरसेणाइरियं संपत्तो।

तेण वि सोरट्ठ-विसय-गिरिणयर-पट्टण-चंदगुहा-ठिएण[3] अट्ठंग-महाणिमित्त-पारएण गंथ-वोच्छेदो होहिदि त्ति जाद-भएण पवयण-वच्छलेण दक्खिणावहाइरियाणं महिमाए मिलियाणं लेहो पेसिदो[4]। लेह-ट्ठिय-धरसेणाइरिय[5]-वयणमवधारिय तेहि वि आइरिएहि बे साहू गहण-धारण-समत्था धवलामल-बहु-विह-विणय-विहूसियंगा सील-माला-हरा गुरु-पेसणासण-तित्ता देस-कुल-जाइ-सुद्धा सयल-कला-पारया तिक्खुत्ताबुच्छियाइरिया अंधविसय-वेण्णायडादो पेसिदा। तेसु आगच्छमाणेसु रयणीए

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शेष अंग तथा पूर्वोके एकदेशके धारक हुए। इसके बाद सभी अंग और पूर्वोंका एकदेश आचार्य-परंपरासे आता हुआ धरसेन आचार्यको प्राप्त हुआ।

सौराष्ट्र (गुजरात-काठियावाड़) देशके गिरिनगर नामके नगरकी चन्द्रगुफामें रहनेवाले, अष्टांग महानिमित्तके पारगामी, प्रवचन-वत्सल और आगे अंग-श्रुतका विच्छेद हो जायगा इसप्रकार उत्पन्न हो गया है भय जिनको ऐसे उन धरसेनाचार्यने महामहिमा अर्थात् पंचवर्षीय साधु-सम्मेलनमें संमिलित हुए दक्षिणापथ के (दक्षिणदेशके निवासी) आचार्योंके पास एक लेख भेजा। लेखमें लिखे गये धरसेनाचार्यके वचनोंको भलीभांति समझकर उन आचार्योंने शास्त्रके अर्थको ग्रहण और धारण करनेमें समर्थ, नाना प्रकारकी उज्वल और निर्मल विनयसे विभूषित अंगवाले, शीलरूपी मालाके धारक, गुरुओं द्वारा प्रेषण (भेजने) रूपी भोजनसे तृप्त हुए, देश, कुल और जातिसे शुद्ध, अर्थात् उत्तम देश, उत्तम कुल और उत्तम जातिमें उत्पन्न हुए, समस्त कलाओंमें पारंगत, और तीन बार पूछा है आचार्योंसे जिन्होंने, (अर्थात् आचार्योंसे तीन बार आज्ञा लेकर) ऐसे दो साधुओंको आन्ध्र-देशमें बहनेवाली वेणानदीके तटसे भेजा।

मार्गमें उन दोनों साधुओंके आते समय, जो कुन्दके पुष्प, चन्द्रमा और शंखके समान

---

१. मु.– धारया।

२. एदेसिं सव्वेसिं कालाणं समासो छसदवासाणि तेसीदिवाससमहियाणि ६८३ वड्ढमाणजिणिंदे णिव्वाणं गदे। जयध. अ. पृ. ११.

३. देशे ततः सुराष्ट्रे गिरिनगरपुरान्तिकोर्जयन्तगिरौ। चंद्रगुहाविनिवासी महातपाः परममुनिमुख्यः॥ अग्रायणीयपूर्वस्थितपंचमवस्तुगतचतुर्थमहाकर्मप्राभृतकज्ञः सूरिर्धरसेननामाभूत्॥ इन्द्र. श्रुता. १०३, १०४.

४. देशेन्द्रदेशनामनि वेणाकतटीपुरे महामहिमा-समुदितमुनीन् प्रति ब्रह्मचारिणा प्रापयल्लेखम्॥ इन्द. श्रुता. १०६.

५. मु. धरसेण।

पच्छिमभाए[1] कुंदेंदु-संखवण्णा सव्व-लक्खण-संपुण्णा अप्पणो कय-तिप्पदाहिणा पाएसु णिसुढिय[2]-पदियंगा बे वसहा सुमिणंतरेण धरसेण-भडारएण दिट्ठा । एवंविह-सुमिणं दट्ठूण तुट्ठेण धरसेणाइरिएण 'जयउ सुय देवदा' त्ति संलवियं[3] । तद्दिवसे चेय ते दो वि जणा संपत्ता धरसेणाइरियं । तदो धरसेण-भयवदो[4] किदियम्मं काउण दोण्णि दिवसे बोलाविय तदिय-दिवसे विणएण धरसेण-भडारओ तेहि विण्णत्तो 'अणेण कज्जेणम्हा दो वि जणा तुम्हं पादमूलमुवगया' त्ति । 'सुट्ठु भद्दं' ति भणिऊण धरसेण-भडारएण दो वि आसासिदा । तदो चिंतिदं भयवदा–

सेलघण-भग्गघड-अहि-चालणि-महिसाऽवि-जाहय-सुएहि ।
मट्टिय-मसय-समाणं वक्खाणइ जो सुदं मोहा[5] ॥ ६२ ॥
दढ-गारव-पडिबद्धो विसयामिस-विस-वसेण घुम्मंतो ।
सो भट्ट-बोहि-लाहो भमइ चिरं भव-वणे मूढो ॥ ६३ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सफेद वर्णवाले हैं, जो समस्त लक्षणोंसे परिपूर्ण हैं, जिन्होंने आचार्य (धरसेन) की तीन प्रदक्षिणा दी हैं और जिनके अंग नम्रित होकर आचार्यके चरणोंमें पड़ गये है ऐसे दो बैलोंको धरसेन भट्टारकने रात्रिके पिछले भागमें स्वप्नमें देखा । इस प्रकारके स्वप्नको देखकर संतुष्ट हुए धरसेनाचार्यने 'श्रुतदेवता जयवन्त हो' ऐसा वाक्य उच्चारण किया ।

उसी दिन दक्षिणापथसे भेजे हुए वे दोनों साधु धरसेनाचार्यको प्राप्त हुए । उसके बाद धरसेनाचार्यकी पादवन्दना आदि कृतिकर्म करके और दो दिन बिताकर तीसरे दिन उन दोनोंने धरसेनाचार्यसे निवेदन किया कि 'इस कार्यसे हम दोनों आपके पादमूलको प्राप्त हुए हैं ।' उन दोनो साधुओंके इसप्रकार निवेदन करने पर 'अच्छा है, कल्याण हो' इसप्रकार कहकर धरसेन भट्टारकने उन दोनों साधुओंको आश्वासन दिया । इसके बाद भगवान धरसेनने विचार किया कि–

शैलघन, भग्नघट, अहि (सर्प), चालनी, महिष, अवि (मेंढ़ा), जाहक (जोंक), शुक, माटी और मशकके समान श्रोताओंको जो मोहसे श्रुतका व्याख्यान करता है, वह मूढ़ दृढ़ रूपसे ऋद्धि आदि तीनों प्रकारके गारवोंके आधीन होकर विषयोंकी लोलुपतारूपी विषके वशसे मूर्च्छित हो, बोधि अर्थात् रत्नत्रयकी प्राप्तिसे भ्रष्ट होकर भव-वनमें चिरकालतक परिभ्रमण करता है ॥ ६२, ६३ ॥

१. मु. पच्छिमे भाए । २. 'भाराक्रान्ते नमेर्णिसुढः'–हे. ८, ४, १५८.

३. आगमनदिने च तयोः पुरैव धरसेनसूरिरपि रात्रौ । निजपादयोः पतन्तौ धवलवृषावैक्षत स्वप्ने ॥ तत्स्वप्नेक्षणमात्राज्जयतु श्रीदेवतेति समुपलपन् । उदतिष्ठदतः प्रातः समागतावैक्षत मुनी द्वौ ॥
इन्द्र. श्रुता. ११२, ११३.

४. ईसरिय-रूव-सिरिं-जस-धम्म पयत्तामया भगाभिक्खा । ते तेसिमसामण्णा संति जओ तेण भगवंते ॥
वि. भा. १०५३.

५. सेलघण कुडग चालिणि परिपूणग हंसमहिसमेसे य । मसग जलूग बिराली जाहग गो भेरि आभीरी बृ. क. सू. ३३४., आ. नि. १३९.

विशेषार्थ— शैलनाम पाषाणका है और घन नाम मेघका है। जिसप्रकार पाषाण, मेघके चिरकालतक वर्षा करनेपर भी आर्द्र या मृदु नहीं होता है, उसी प्रकार कुछ ऐसे भी श्रोता होते हैं, जिन्हें गुरुजन चिरकालतक भी धर्मामृतके वर्षण या सिंचन द्वारा कोमलपरिणामी नहीं बना सकते हैं ऐसे श्रोताओंको शैलघन श्रोता कहा है ॥ १ ॥ भग्नघट फूटे घड़ेको कहते हैं। जिस प्रकार फूटे घड़ेमें ऊपरसे भरा गया जल नीचेकी ओरसे निकल जाता है भीतर कुछ भी नहीं ठहरता, इसी प्रकार जो उपदेशको एक कानसे सुनकर दुसरे कानसे निकाल देते हैं उन्हें भग्नघट श्रोता कहा है ॥ २ ॥ अहि नाम सांपका है। जिस प्रकार मिश्री मिश्रित-दुग्धके पान
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
करनेपर भी सर्प विषको ही वमन करता है, उसी प्रकार जो सुन्दर, मधुर और हितकर उपदेशके सुनने पर भी विष वमन करते है अर्थात् प्रतिकूल आचरण करते हैं, उन्हें अहिसमान श्रोता समझना चाहिये ॥ ३ ॥ चालनी जैसे उत्तम आटेको नीचे गीरा देती है और भूसा या चोकरको अपने भीतर रख लेती है, इसी प्रकार जो उत्तम सारयुक्त उपदेशको तो बाहर निकाल देते हैं और निःसार तत्त्वको धारण करते हैं वे चालनीसमान श्रोता हैं ॥ ४ ॥ महिषा अर्थात् भैंसा जिस प्रकार जलाशयसे जल तो कम पीता है परंतु बारबार डुबकी लगाकर उसे गंदला कर देता है, उसी प्रकार जो श्रोता सभामें उपदेश तो अल्प ग्रहण करते हैं पर प्रसंग पाकर क्षोभ या उद्वेग उत्पन्न कर देते हैं वे महिषासमान श्रोता हैं ॥ ५ ॥ अवि नाम मेष (मेंढा) का है। जैसे मेंढा पालनेवालेकोही मारता है, उसी प्रकार जो उपदेशदाताकी ही निन्दा करते हैं और समय आनेपर घात तक करने को उद्यत रहते हैं उन्हें अविके समान श्रोता समझना चाहिये ॥ ६ ॥ जाहक नाम सेही आदि अनेक जीवोंका है पर प्रकृतमें जोंक अर्थ ग्रहण किया गया है। जैसे जोंकको स्तनपर भी लगावें तो भी वह दूध न पीकर खून ही पीती है, इसी प्रकार जो उत्तम आचार्य या गुरुके समीप रहकर भी उत्तम तत्त्वको तो ग्रहण नहीं करते, पर अधम तत्त्वको ही ग्रहण करते हैं वे जोंकके समान श्रोता हैं ॥ ७ ॥ शुक नाम तोतेका है। तोतेको जो कुछ सिखाया जाता है वह सीख तो जाता है पर उसे यथार्थ अर्थ प्रतिभासित नहीं होता, उसी प्रकार उपदेश स्मरणकर लेनेपर भी जिनके हृदयमें भाव-भासना नहीं होती है वे शुकसमान श्रोता हैं ॥ ८ ॥ मट्टी जैसे जलके संयोग मिलने पर तो कोमल हो जाती है, पर जलके अभावमें पुनः कठोर हो जाती है, इसी प्रकार जो उपदेश मिलनेतक तो मृदु-परिणामी बने रहते हैं और बादमें पूर्ववत् ही कठोर-हृदय हो जाते हैं वे मट्टीके समान श्रोता है ॥ ९ ॥ मशक अर्थात् मच्छर पहले कानोंमें आकर गुनगुनाता है, चरणोंमें गिरता है किंतु अवसर पाते ही काट खाता है, उसी प्रकार जो श्रोता पहले तो गुरु या उपदेश-दाताकी प्रशंसा करेंगे, चरण-वन्दना भी करेंगे, पर अवसर आते ही काटे बिना न रहेंगे उन्हें मशकके समान श्रोता समझना चाहिये ॥१०॥ उक्त सभी प्रकारके श्रोता अयोग्य हैं, उन्हें उपदेश देना व्यर्थ हैं।

किसी किसी शास्त्रमें उक्त नामोंमें तथा अर्थमें भेद भी देखनेमें आता है किंतु कुश्रोताका भाव यहां पर अभीष्ट है।

इदि वयणादो जहाछंदाईणं विज्जा-दाणं संसार-भय-वद्धणमिदि चिंतेऊण
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
सुहसुमिण-दंसणेणेव अवगय-पुरिसंतरेण धरसेण-भयवदा पुणरवि ताणं परिक्खा काउमाढत्ता 'सुपरिक्खा हियय-णिव्वुइकरेत्ति'। तदो ताणं तेण दो विज्जाओ दिण्णाओ[1]। तत्थ एया अहियक्खरा, अवरा विहीणक्खरा। एदाओ छट्ठोववासेण साहेहु त्ति। तदो ते सिद्धविज्जा विज्जा-देवदाओ पेच्छंति, एया उद्दंतुरिया अवरेया काणिया। एसो देवदाणं सहावो ण होदि त्ति चिंतेऊण मंत-व्वायरण-सत्थ-कुसलेहि हीणाहियक्खराणं छुहणावणयण-विहाणं काऊण पढंतेहि दो वि देवदाओ सहाव-रूव-ट्ठियाओ दिट्ठाओ। पुणो तेहि धरसेण-भयवंतस्स जहावित्तेण विणएण णिवेदिदे सुट्ठु तुट्ठेण धरसेण-भडारएण सोम्म[2]-तिहि-णक्खत्त-वारे गंथो पारद्धो। पुणो कमेण वक्खाणंतेण तेण आसाढ[3]-मास-सुक्क-पक्ख-एक्कारसीए पुव्वण्हे गंथो समाणिदो। विणएण गंथो समाणिदो त्ति तुट्ठेहि भूदेहि तत्थेयस्स महदी पूजा पुप्फ-बलि-संख-

इस वचनके अनुसार यथाछन्द अर्थात् स्वच्छन्दतापूर्वक आचरण करनेवाले श्रोताओंको विद्या देना संसार और भयका ही बढ़ानेवाला है, ऐसा विचार कर, शुभ स्वप्नके देखने मात्रसे ही यद्यपि धरसेन भट्टारकने उन आये हुए दोनों साधुओंके अन्तर अर्थात् विशेषताको जान लिया था, तो भी फिरसे उनकी परीक्षा लेनेका निश्चय किया, क्योंकि, उत्तम प्रकारसे ली गई परीक्षा हृदयमें संतोषको उत्पन्न करती है। इसके बाद धरसेनाचार्यने उन दोनों साधुओंको दो विद्याएं दीं। उनमेंसे एक अधिक अक्षरवाली थी और दूसरी हीन अक्षरवाली थी। दोनोंको दो विद्याएं देकर कहा कि इनको षष्ठभक्त उपवास अर्थात् दो दिनके उपवाससे सिद्ध करो। इसके बाद जब उनको विद्याएं सिद्ध हुईं, तो उन्होंने विद्याकी अधिष्ठात्री देवताओंको देखा कि एक देवीके दांत बाहर निकले हुए हैं और दूसरी कानी है। 'विकृतांग होना देवताओंका स्वभाव नहीं होता है' इस प्रकार उन दोनोंने विचारकर मन्त्र-संबन्धी व्याकरण-शास्त्रमें कुशल उन दोनोंने हीन अक्षरवाली विद्यामें अधिक अक्षर मिलाकर और अधिक अक्षरवाली विद्यामेंसे अक्षर निकालकर मन्त्रको पढ़ना अर्थात् फिरसे सिद्ध करना प्रारम्भ किया। जिससे वे दोनों विद्या-देवताएं अपने स्वभाव और अपने सुन्दर रूपमें स्थित दिखलाई पड़ीं। तदनन्तर भगवान् धरसेनके समक्ष, योग्य विनय-सहित उन दोनोंके विद्या-सिद्धिसंबन्धी समस्त वृत्तान्तके निवेदन करनेपर 'बहुत अच्छा' इस प्रकार संतुष्ट हुए धरसेन भट्टारकने शुभ तिथि, शुभनक्षत्र और शुभवारमें ग्रन्थका पढ़ाना प्रारम्भ किया। इसतरह क्रमसे व्याख्यान करते हुए धरसेन भगवान्से उन दोनोंने आषाढ़ मासके शुक्लपक्षकी एकादशीके पूर्वाण्हकालमें ग्रन्थ समाप्त किया। विनयपूर्वक ग्रन्थ समाप्त किया, इसलिए संतुष्ट हुए भूत जातिके व्यन्तर देवोंने उन दोनोंमेंसे एककी

१. सुपरीक्षा हृन्निर्वृतिकरीति सञ्चिन्त्य दत्तवान् सूरिः। साधयितुं विद्ये द्वे हीनाधिकवर्णसंयुक्ते ॥ इन्द्र. श्रुता. ११५.

२. मु. सोम। ३. मु. वक्खाणंतेण आसाढ।

मार्गदर्शक:- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तूर-रव-संकुला कदा। तं दट्ठूण तस्स 'भूदबलि' त्ति भडारएण णामं कयं। अवरस्स वि भूदेहि पूजिदस्स अत्थ-वियत्थ-ट्ठिय-दंत-पंतिमोसारिय भूदेहि समीकय-दंतस्स 'पुप्फयंतो' त्ति णामं कयं।

पुणो ते[1] तद्दिवसे[2] चेव पेसिदा संता 'गुरु-वयणमलंघणिज्जं' इदि चिंतिऊ-णागदेहि अंकुलेसरे वरिसा-कालो कओ। जोगं समाणीय जिणवालियं[3] दट्ठूण पुप्फयंताइरियो वणवासि[4]-विसयं गदो। भूदबलि-भडारओ वि दमिल-विसयं[5] गदो। तदो पुप्फयंताइरिएण जिणवालिदस्स दिक्खं दाऊण वीसदि[6]-सुत्ताणि[7] करिय पढाविय पुणो सो भूदबलि-भयवंतस्स पासं पेसिदो। भूदबलि-भयवदा जिणवालिद-पासे दिट्ठ-वीसदि-सुत्तेण अप्पाउओ त्ति अवगय-जिणवालिदेण महाकम्म-पयडि-पाहुडस्स वोच्छेदो होहदि त्ति समुप्पण्ण-बुद्धिणा पुणो दव्व-पमाणाणुगममादिं काऊण गंथ-रचणा कदा। तदो एयं खंड-सिद्धंतं पडुच्च भूदबलि-पुप्फयंताइरिया वि कत्तारो उच्चंति।

पुष्प, बलि तथा शंख और तूर्य जातिके वाद्यविशेषके नादसे व्याप्त बडी भारी पूजा की। उसे देखकर धरसेन भट्टारकने उनका 'भूतबलि' यह नाम रक्खा। तथा जिनकी भूतोंने पूजा की है, और अस्त-व्यस्त दन्तपंक्तिको दूर करके भूतोंने जिनके दांत समान कर दिये हैं ऐसे दूसरेका भी धरसेन भट्टारकने 'पुष्पदन्त' नाम रक्खा।

तदनन्तर उसी दिन वहांसे भेजे गये उन दोनोंने 'गुरुके वचन अर्थात् गुरुकी आज्ञा अलंघनीय होती है' ऐसा विचार कर आते हुए अंकलेश्वर (गुजरात) में वर्षाकाल बिताया। वर्षायोगको समाप्त कर और जिनपालितको देखकर (उसके साथ) पुष्पदन्त आचार्य तो वनवासि देशको चले गये और भूतबलि भट्टारक तमिल देशको चले गये। तदनन्तर पुष्पदन्त आचार्यने जिनपालितको दीक्षा देकर, बीस प्ररूपणा गर्भित सत्प्ररूपणाके सूत्र बनाकर और जिनपालितको पढ़ाकर अनन्तर उन्हें भूतबलि आचार्यके पास भेजा। तदनन्तर जिन्होंने जिनपालितके पास बीस प्ररूपणान्तर्गत सत्प्ररूपणाके सूत्र देखे हैं और पुष्पदन्त आचार्य अल्पायु हैं। इसप्रकार जिन्होंने जिनपालितसे जान लिया है, अतएव महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका विच्छेद हो जायगा इसप्रकार उत्पन्न हुई है बुद्धि जिनको ऐसे भगवान् भूतबलिने द्रव्यप्रमाणानुगमको आदि लेकर ग्रन्थ-रचना की। इसलिये इस खण्डसिद्धान्तकी अपेक्षा भूतबलि और पुष्पदन्त आचार्य भी श्रुतके कर्ता कहे जाते हैं।

---

१. मु. पुणो तद्दिवसे। २. 'द्वितीयदिवसे' इति पाठः। इन्द्र. श्रुता. १२९.
३. 'स्वभागिनेयं' इति विशेषः। इन्द्र. श्रुता. १३४. ४. मु. वणवास।
५. मु. दमिलदेसं। अ. प्रतिमें देसं पाठः ६. मु. तथा अ. प्रतिमें वीसदि।
७. वाञ्छन् गुणजीवादिकविंशतिविधसूत्रसत्प्ररूपणया। युक्तं जीवस्थानाद्यधिकारं व्यरचयत्सम्यक्॥ इन्द्र. श्रुता. १३५.

तदो मूल-तंत-कत्ता वड्ढमाण-भडारओ, अणुतंत-कत्ता गोदम-सामी, उवतंतकत्तारा भूदबलि-पुप्फयंतादयो वीय-राय-दोस-मोहा मुणिवरा। किमर्थं कर्ता प्ररूप्यते ? शास्त्रस्य प्रामाण्यप्रदर्शनार्थम्[1] 'वक्तृप्रामाण्याद् वचनप्रामाण्यम्' इति न्यायात्।

संपहि जीवट्ठाणस्स[2] अवयारो उच्चदे। तं जहा– सो वि चउव्विहो उवक्कमो णिक्खेवो णयो अणुगमो चेदि। तत्थ उवक्कमं भणिस्सामो। उपक्रम इत्यर्थमात्मनः उप समीपं क्राम्यति करोतीत्युपक्रमः[3]। सो वि उवक्कमो पंचविहो–आणुपुव्वी णामं पमाणं वत्तव्वदा अत्थाहियारो चेदि। उत्तं च––

तिविहा य आणुपुव्वी दसहा णामं च छव्विहं माणं।
वत्तव्वदा य तिविहा तिविहो अत्थाहियारो वि ॥ ६४ ॥ इदि।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इसतरह मूलग्रन्थकर्ता वर्द्धमान भट्टारक हैं, अनुग्रन्थकर्ता गौतमस्वामी हैं और उपग्रन्थकर्ता राग, द्वेष और मोहसे रहित भूतबलि, पुष्पदन्त इत्यादि अनेक आचार्य हैं।

शंका–– यहां पर कर्ताका प्ररूपण किसलिये किया गया है ?

समाधान–– शास्त्रकी प्रमाणताके दिखानेके लिये यहां पर कर्ताका प्ररूपण किया गया है, क्योंकि, 'वक्ताकी प्रमाणतासे ही वचनोंमें प्रमाणता आती है' ऐसा न्याय है।

अब जीवस्थानके अवतारका प्रतिपादन करते हैं। अर्थात् पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्यने जीवस्थान, खुद्दाबन्ध, बन्धस्वामित्व, वेदनाखण्ड, वर्गणाखण्ड और महाबन्ध नामक जिस षट्खण्डागमकी रचना की। उनमेंसे, प्रकृतमें यहां जीवस्थान नामके प्रथम खण्डकी उत्पत्तिका क्रम कहते हैं। वह इसप्रकार है––

वह अवतार चार प्रकारका है– उपक्रम, निक्षेप, नय और अनुगम। उन चारोंमें पहले उपक्रमका निरूपण करते हैं, जो अर्थको अपने समीप करता है उसे उपक्रम कहते हैं। उस उपक्रमके पांच भेद हैं– आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता, और अर्थाधिकार। कहा भी है–

आनुपूर्वी तीन प्रकारकी है, नामके दश भेद हैं, प्रमाणके छह भेद हैं, वक्तव्यताके तीन भेद हैं और अर्थाधिकारके भी तीन भेद हैं ॥६४॥

१. इयमूलतंतकत्ता सिरिवीरो इंदभूदि विप्पवरे। उवतंते कत्तारो अणुतंते सेस आइरिया ॥ णिण्णट्ठरायदोसा महेसिणो दिव्वसुत्तकत्तारो। किं कारणं पभणिदा कहिदुं सुत्तस्स पामण्णं ॥ ति. प. १, ८०,-८१.

२. पुष्पदन्तभूतबलिभ्यां प्रणीतस्यागमस्य नाम 'षट्खण्डागमः' तस्येमे षट् खण्डाः– १ जीवस्थानं २ खुद्दाबन्धः ३ बन्धस्वामित्वविचयः ४ वेदनाखण्डः ५ वर्गणाखण्डः ६ महाबन्धश्चेति। एषां षण्णां खण्डानां मध्ये प्रथमतस्तावज्जीवस्थाननामकप्रथमखण्डस्यावतारो निरूप्यते।

३. प्रकृतस्यार्थतत्त्वस्य श्रोतृबुद्धौ समर्पणम्। उपक्रमोऽसौ विज्ञेयस्तथोपोद्घात इत्यपि ॥ आ. पु. २. १०३. सत्थस्सोवक्कमणं उवक्कमो तेण तम्मि व तओ वा। सत्थसमीवीकरणं आणयणं नासदेसम्मि ॥ वि. भा. ९१४.

पुव्वाणुपुव्वी पच्छाणुपुव्वी जत्थतत्थाणुपुव्वी चेदि तिविहा आणुपुव्वी । जं मूलादो परिवाडीए उच्चदे सा पुव्वाणुपुव्वी[1] । तिस्से उदाहरणं– ' उसहमजियं च वंदे[2] ' इच्चेवमादि । जं उवरीदो हेट्ठा परिवाडीए उच्चदि सा पच्छाणुपुव्वी[3] । तिस्से उदाहरणं––

एस करेमि य पणमं जिणवर-वसहस्स वड्ढमाणस्स ।
सेसाणं च जिणाणं सिव-सुह-कंखा विलोमेण[4] ॥ ६५ ॥ इदि

जमणुलोम-विलोमेहि विणा जहा तहा उच्चदि सा जत्थतत्थाणुपुव्वी[5] । तिस्से उदाहरणं––

गय-गवल-सजल-जलहर-परहुव-सिहि-गलय-भमर-संकासो ।
हरिउल-वंस-पईवो सिव-माउव-वच्छओ जयऊ ॥ ६६ ॥ इच्चेवमादि ।

पूर्वानुपूर्वी, पश्चादानुपूर्वी और यथातथानुपूर्वी इसतरह आनुपूर्वीके तीन भेद हैं । जो वस्तुका विवेचन मूलसे परिपाटीद्वारा किया जाता है उसे पूर्वानुपूर्वी कहते हैं । उसका उदाहरण इसप्रकार है– ' ऋषभनाथकी वन्दना करता हूं, अजितनाथकी वन्दना करता हूं ' इत्यादि मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज क्रमसे ऋषभनाथको आदि लेकर महावीरस्वामी पर्यन्त क्रमवार वन्दना करना सो वन्दनासंबन्धी पूर्वानुपूर्वी उपक्रम है । जो वस्तुका विवेचन ऊपरसे अर्थात् अन्तसे लेकर आदितक परिपाटी-क्रमसे (प्रतिलोम-पद्धतिसे) किया जाता है उसे पश्चादानुपूर्वी उपक्रम कहते है । जैसे––

मोक्ष-सुखकी अभिलाषासे यह मैं जिनवरोंमें श्रेष्ठ ऐसे वर्द्धमानस्वामीको नमस्कार करता हूं । और विलोमक्रमसे अर्थात् वर्द्धमानके बाद पार्श्वनाथको, पार्श्वनाथके बाद नेमिनाथको इत्यादि क्रमसे शेष जिनेन्द्रोंको भी नमस्कार करता हूं ॥ ६५ ॥

जो कथन अनुलोम और प्रतिलोम क्रमके विना जहां कहींसे भी किया जाता है उसे यथातथानुपूर्वी कहते हैं । जैसे––

हाथी, अरण्यभैंसा, जलपरिपूर्ण और सघन मेघ, कोयल, मयूरका कण्ठ और भ्रमरके

---

१. जं जेण कमेण सुत्तकारेहि ठइदमुप्पण्णं वा तस्स तेण कमेण गणणा पुव्वाणुपुव्वी णाम । जयध. अ. पृ. ३.

२. उसहमजियं च वंदे संभवमभिणंदणं च सुमइं च । पउमप्पहं सुपासं जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥ सुविहिं च पुप्फदंतं सीयलसेयं च वासुपुज्जं च । विमलमणंतं भयवं धम्मं संतिं च वंदामि ॥ कुंथुं च जिणवरिंदं अरं च मल्लिं च मुणिसुव्वयं च । णमिं वंदामि अरिट्ठं णेमिं तह पासवड्ढमाणं च ॥ एवमए अभित्थुहिया विहुयरयमला पहीणजरमरणा । चउवीसं वि जिणवरा तित्थयरा मे पसीयंतु ॥ द. भ. पृ. ४.

३. तस्स विलोमेण गणणा पच्छाणुपुव्वी । जयध. अ. पृ. ३.

४. एस करेमि पणामं जिणवरवसहस्स वड्ढमाणं च । सेसाणं च जिणाणं सगणगणधराणं च सव्वेसिं ॥ मूलाचा. १०५.

५. जत्थ वा तत्थ वा अप्पणो इच्छिदमादिं कादूण गणणा जत्थतत्थाणुपुव्वी । जयध. अ. पृ. ३.

इदं पुण जीवट्ठाणं खंड-सिद्धंतं पडुच्च पुव्वाणुपुव्वीए ट्ठिदं छण्हं खंडाणं पढम-खंडं जीवट्ठाणमिदि । वेदणा-कसिण-पाहुड-मज्झादो अणुलोम-विलोम-कमेहि विणा जीवट्ठाणस्स संतादि-अहियारा अहिणिग्गया त्ति जीवट्ठाणं जत्थतत्थाणुपुव्वीए वि संठिदं । जीवट्ठाणे ण पच्छाणुपुव्वी संभवइ ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

णामस्स दस[1] ट्ठाणाणि भवंति । तं जहा, गोण्णपदे णोगोण्णपदे आदाणपदे पडिवक्खपदे अणादियसिद्धंतपदे पाधण्णपदे णामपदे पमाणपदे अवयवपदे संजोगपदे चेदि ।

गुणानां भावो गौण्यम् । तद् गौण्यं पदं स्थानमाश्रयो येषां नाम्नां तानि गौण्यपदानि[2] । यथा, आदित्यस्य तपनो भास्कर इत्यादीनि नामानि । नोगौण्यपदं[3] नाम गुणनिरपेक्षमनन्वर्थमिति यावत् । तद्यथा, चन्द्रस्वामी सूर्यस्वामी इन्द्रगोप

समान वर्णवाले, हरिवंशके प्रदीप, और शिवादेवी माताके लाल ऐसे नेमिनाथ भगवान् जयवन्त हों ॥ ६६ ॥ इत्यादि यथातथानुपूर्वीका उदाहरण समझना चाहिये ।

यह जीवस्थान नामक शास्त्र खण्डसिद्धान्तकी अपेक्षा पूर्वानुपूर्वी क्रमसे लिखा गया है, क्योंकि, षट्खण्डागममें जीवस्थान प्रथम खण्ड है । वेदनाकषायप्राभृतके मध्यसे अनुलोम और विलोमक्रमके विना जीवस्थानके सत्, संख्या आदि अधिकार निकले हैं, इसलिये जीवस्थान यथातथानुपूर्वीमें भी गर्भित है । किंतु इस जीवस्थान खण्डमें केवल पश्चादानुपूर्वी संभव नहीं है ।

नाम-उपक्रमके दश भेद हैं । वे इसप्रकार हैं– गौण्यपद, नोगौण्यपद, आदानपद, प्रतिपक्षपद, अनादिसिद्धान्तपद, प्राधान्यपद, नामपद, प्रमाणपद, अवयवपद और संयोगपद ।

गुणोंके भावको गौण्य कहते हैं । जो पदार्थ गुणोंकी मुख्यतासे व्यवहृत होते हैं वे गौण्यपदार्थ हैं । वे गौण्य पदार्थ पद अर्थात् स्थान या आश्रय जिन नामोंके होते हैं उन्हें गौण्यपद-नाम कहते हैं । अर्थात् जिस संज्ञाके व्यवहारमें अपने विशेष गुणका आश्रय लिया जाता है उसे गौण्यपदनाम कहते हैं । जैसे, सूर्यकी तपन और भास् गुणकी अपेक्षा तपन और भास्कर इत्यादि संज्ञाएं हैं । जिन संज्ञाओंमें गुणोंकी अपेक्षा न हो, अर्थात् जो असार्थक नाम हैं उन्हें नोगौण्यपद-नाम कहते हैं । जैसे, चन्द्रस्वामी, सूर्यस्वामी, इन्द्रगोप इत्यादि नाम ।

---

१. से किं दसनामे पण्णत्ते ? तं जहा, गोण्णे नोगोण्णे आयाणपएणं पडिवक्खपएणं पहाणयाए अणाइअसिद्धतेणं नामेणं अवयवेणं संजोगेणं पमाणेणं । अनु. १, १२७.

२. से किं तं गोण्णे ? गोण्णे खमइ त्ति खमणो, तपइ त्ति तपणो, जलइ त्ति जलणो, पवइ त्ति पवणो । से त्तं गोणे । अनु. १, १२८.

३. नो गोणे अकुंतो सकुंतो अमुग्गो समुग्गो अलालं पलालं अकुलिया सकुलिया अमुद्दो समुद्दो नोपलं असइ त्ति पलासं, अमाति बाहए माइबाहए, अबीय बावए बीयावावए, नो इंदगोवइए त्ति इंदगोवे से त्तं नो गोणे । अनु. १, १२८.

इत्यादीनि नामानि। आदानपदं[1] नाम आत्तद्रव्यनिबन्धनम्। नैतद्गुणनाम्नोऽन्तर्भवति, तत्रादानादेयत्वविवक्षाभावात्। भावे वा न तद्गुणाश्रितम्, आदानपदनाम्नोऽन्तर्भावात्। पूर्णकलश इत्येतदादानपदम्। नादानपदम्। तद्यथा– घटस्य कलश इति संज्ञा नात्तद्रव्यादिमाश्रिता, तस्यास्तथाविधविवक्षामन्तरेण प्रवृत्तायाः समुपलम्भात्। न पूर्णशब्दोऽपि, तस्य पर्याप्तवाचकत्वेन गुणनाम्नोऽन्तर्भावात्। नोभयसमासोऽपि, तस्य भावसंयोगेऽन्तर्भावादिति ? न, जलादिद्रव्याधारत्वविवक्षायां पूर्णकलशशब्दस्यादान-

---

विशेषार्थ–– जिन मनुष्योंके चन्द्रस्वामी आदि नाम रक्खे जाते हैं उनमें चन्द्र आदिका न तो स्वामीपना पाया जाता है और न इन्द्रके वे रक्षक ही होते हैं। केवल ये नाम रूढ़िसे रक्खे जाते हैं। इनमें गुणादि की कुछ भी प्रधानता नहीं पायी जाती है, इसलिये इन्हें नोगौण्यपदनाम कहते हैं।

ग्रहण किये गये द्रव्यके निमित्तसे जो नाम व्यवहारमें आते हैं, अर्थात् जिनमें द्रव्यके निमित्तकी अपेक्षा होती है उन्हें आदानपदनाम कहते हैं।

विशेषार्थ–– आदानपदनामोंमें, संयोगको प्राप्त हुए द्रव्यके निमित्तसे उत्पन्न हुई अवस्थाविशेषकी वाचक संज्ञाएं ली जाती हैं। अर्थात् आदान-आदेय भावकी मुख्यतासे जो नाम प्रचलित होते हैं उन्हें आदानपदनाम कहते हैं।

इस आदानपदनामका गुणनाममें अन्तर्भाव नहीं हो सकता है, क्योंकि, गुणनामोंमें आदान-आदेय भावकी विवक्षा नहीं रहती है। यदि गुणनामोंमें भी आदान-आदेय भावकी विवक्षा मान ली जाय तो गौण्यपदनाम गुणाश्रित नहीं रह सकते हैं, क्योंकि, आदान-आदेय भावकी मुख्यतासे उनका आदानपदनामोंमें अन्तर्भाव हो जायगा।

'पूर्णकलश' इस पदको आदानपदनाम समझना चाहिये।

शंका–– 'पूर्णकलश' यह आदानपदनाम नहीं हो सकता है। इसका खुलासा इस-प्रकार है– घटकी 'कलश' यह संज्ञा ग्रहण किए गये किसी द्रव्यादिके आश्रयसे नहीं है, क्योंकि 'कलश' इस संज्ञाकी द्रव्यादिकके निमित्तकी विवक्षाके विना ही प्रवृत्ति देखी जाती है। इसी-तरह 'पूर्ण' यह शब्द भी आदानपदनाम नहीं हो सकता है, क्योंकि, 'पूर्ण' यह शब्द पर्याप्तका वाचक होनेसे उसका गौण्यपदनाममें अन्तर्भाव हो जाता है। पूर्ण और कलश इन दोनों पदोंका समास भी आदानपदनाम नहीं हो सकता है, क्योंकि, उसका भावसंयोगमें अन्तर्भाव हो जाता है ?

समाधान–– ऐसी शंका करना उचित नहीं है, क्योंकि, जलादि द्रव्यके आधारपनेकी विवक्षामें 'पूर्णकलश' इस शब्दको आदानपदनाम माना गया है।

---

१. से किं तं आयाणपदेणं ? धम्मो मंगलं, चूलिया चाउरंगिज्जं असंखयं आवंती तत्थिज्जं अद्दइज्जं जण्णइज्जं पुरिसइज्जं एलइज्जं वीरयं धम्मो मग्गो समोसरणं गंथो जं महियं से तं आयाणपएणं,। अनु. १, १२८.

पदत्वाभ्युपगमात् । एवमविधवेत्यपि चालयित्वा व्यवस्थापनीयम् । अक्लिष्टानि कानि पुनरादानपदनामानि ? वधूरन्तर्वत्नीत्यादीनि, आत्तभर्तृधृतापत्यनिबन्धनत्वात् । प्रतिपक्षपदानि[1] कुमारी बन्ध्येत्येवमादीनि, आदानपदप्रतिपक्षनिबन्धनत्वात् । अनादि-सिद्धान्तपदानि धर्मास्तिरधर्मास्तिरित्येवमादीनि । अपौरुषेयत्वतोऽनादिः सिद्धान्तः, स पदं स्थानं यस्य तदनादिसिद्धान्तपदम्[2] । प्राधान्यपदानि[3] आम्रवनं निम्बवन-मित्यादीनि, वनान्तः सत्स्वप्यन्येष्वविवक्षितवृक्षेषु विवक्षाकृतप्राधान्यचूतपिचुमन्द-

---

विशेषार्थ— जलादि द्रव्य आदान है और कलश आदेय है । इसलिये ' पूर्णकलश ' इस शब्दका आदानपदनाममें अन्तर्भाव होता है । यह बात गौण्यपदनाममें नहीं है, इसलिये उसमें उसका अन्तर्भाव नहीं होसकता है यदि गौण्यपदमें इसप्रकारकी विवक्षा की जायगी तो वह गौण्यपद न कहलाकर आदानपदकी कोटिमें आ जायगा ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इसीप्रकार ' अविधवा ' इस पदका भी विचार कर आदानपदनाममें अन्तर्भाव कर लेना चाहिये ।

शंका— अक्लिष्ट अर्थात् सरल आदानपदनाम कौनसे हैं ?

समाधान— वधू और अन्तर्वत्नी इत्यादि सरल आदानपदनाम समझना चाहिये, क्योंकि, स्वीकृत पतिकी अपेक्षा वधू और धारण किये गये गर्भस्थ पुत्रकी अपेक्षा ' अन्तर्वत्नी ' संज्ञा प्रचलित है ।

कुमारी, वन्ध्या इत्यादिक प्रतिपक्षपदनाम हैं, क्योंकि, आदानपदोंमें ग्रहण किये गये दूसरे द्रव्यकी निमित्तता कारण पड़ती है और यहां पर अन्य द्रव्यका अभाव कारण पड़ता है । इसलिये आदानपदनामोंके प्रतिपक्ष-कारणक होनेसे कुमारी या वन्ध्या इत्यादि पद प्रतिपक्ष-पदनाम जानना चाहिये ।

अनादिकालसे प्रवाहरूपसे चले आये सिद्धान्तवाचक पदोंको अनादिसिद्धान्तपदनाम कहते हैं । जैसे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय इत्यादि । अपौरुषेय होनेसे सिद्धान्त अनादि है । वह सिद्धान्त जिस नामरूप पदका आश्रय हो उसे अनादिसिद्धान्तपद कहते हैं ।

बहुतसे पदार्थोंके होने पर भी किसी एक पदार्थकी बहुलता आदि द्वारा प्राप्त हुई प्रधानतासे जो नाम बोले जाते हैं उन्हें प्राधान्यपदनाम कहते हैं । जैसे आम्रवन निम्बवन

---

१. से किं तं पडिवक्खपएणं ? पडिवक्खपदेणं नवेसु गामागारणगरखेडकव्वडमंडवदोणमुहपट्टणास-मसंवाहसंनिवेसेसु संनिविसमाणेसु असिवा सिवा, अग्गी सीअलो, विसं महुरं, कल्लालघरेसु अंबिलं साउअं, जे रत्तए से अलत्तय, जे लाउए से अलाउए, जे सुंभए से कुसुंभए, आलवंते विवलीअभासए, से त्तं पडिवक्खपएणं । अनु. १, १२८.

२. अनादियसिद्धंतेणं, धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए आगासत्थिकाए जीवत्थिकाए पुग्गलत्थिकाए अद्धासमए से त्तं अनादियसिद्धंतेणं । अनु. १, १२८.

३. पाहण्णयाए असोगवणे सत्तवणवणे चंपगवणे चूअवणे नागवणे पुन्नागवणे उच्छुवणे दक्खवणे सालिवणे से त्तं पाहण्णयाए । अनु. १, १२८.

निबन्धनत्वात् । नामपदं[1] नाम गौडोऽन्ध्रो द्रमिल इति, गौडान्ध्रद्रमिलभाषानाम-धामत्वात् । प्रमाणपदानि[2] शतं सहस्रं द्रोणः खारी पलं तुला कर्षादीनि, प्रमाणनाम्नां प्रमेयेषूपलम्भात् ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अवयवपदानि[3] यथा । सोऽवयवो द्विविधः, उपचितोऽपचित इति । तत्रोपचितावयवनिबन्धनानि यथा, गलगण्डः शिलीपदः लम्बकर्ण इत्यादीनि नामानि । अवयवापचयनिबन्धनानि यथा छिन्नकर्णः छिन्ननासिक इत्यादीनि नामानि । संयोगपदानि[4] यथा । स संयोगश्चतुर्विधो द्रव्यक्षेत्रकालभावसंयोगभेदात् । द्रव्यसंयोगपदानि यथा– इभ्यः गौथः दण्डी छत्री गर्भिणी इत्यादीनि, द्रव्यसंयोगनिबन्धनत्वात् तेषां ।

इत्यादि । वनमें अन्य अविवक्षित वृक्षोंके रहने पर भी विवक्षासे प्रधानताको प्राप्त आम और नीमके वृक्षोंके कारण आम्रवन और निम्बवन आदि नाम व्यवहारमें आते हैं ।

गौड़, आन्ध्र, द्रमिल इत्यादि नामपद नाम हैं । ये गौड़ आदि नाम गौड़ी, आन्ध्री और द्रमिल भाषाओंके नाम के आधारभूत हैं ।

गणना अथवा मापकी अपेक्षासे जो संज्ञाएं प्रचलित हैं उन्हें प्रमाणपदनाम कहते हैं । जैसे, सौ, हजार, द्रोण, खारी, पल, तुला, कर्ष इत्यादि । ये सब प्रमाणनाम प्रमेयोंमें पाये जाते हैं, अर्थात् इन नामोंके द्वारा तत्प्रमाण वस्तुका बोध होता है ।

अब अवयवपदनाम कहते हैं । अवयव दो प्रकारके होते हैं– उपचितावयव और अपचितावयव । रोगादिके निमित्त मिलने पर किसी अवयवके बढ़ जानेसे जो नाम बोले जाते हैं उन्हें उपचितावयवपदनाम कहते हैं । जैसे, गलगंड, शिलीपद, लम्बकर्ण इत्यादि । जो नाम अवयवोंके अपचय अर्थात् उनके छिन्न हो जानेके निमित्तसे व्यवहारमें आते हैं उन्हें अपचितावयवपदनाम कहते हैं । जैसे, छिन्नकर्ण, छिन्ननासिक इत्यादि नाम ।

अब संयोगपदनामका कथन करते हैं । द्रव्यसंयोग, क्षेत्रसंयोग, कालसंयोग और भावसंयोग के भेदसे संयोग चार प्रकारका है । इभ्य, गौथ, दण्डी, छत्री, गर्भिणी इत्यादि द्रव्यसंयोगपदनाम हैं, क्योंकि, धन, गूथ, दण्डा, छत्ता इत्यादि द्रव्यके संयोगसे ये नाम व्यवहारमें

---

१. नामेणं पिउपिआमहस्स नामेणं उन्नामिज्जइ से त्तं णामेणं । अनु. १, १२८.

२. पमाणेणं चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा, नामपमाणे ठवणप्पमाणे दव्वपमाणे भावपमाणे । अनु. १, १३३.

३. अवयवेणं, सिंगी सिही विसाणी दाढी पक्खी खरी नही वाली । दुपय चउप्पय बहुपय लंगूली केसरी कउही परियर-बंधेण भडं जाणिज्जा महिलिअं निवसणेणं सित्थेण दोणवायं कविं च एक्काए गाहाए । से त्तं अवयवेणं । अनु. १, १२८.

४. से किं तं संजोएणं ? संजोगे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा, दव्वसंजोगे, खेत्तसंजोगे, कालसंजोगे, भावसंजोगे । से किं तं दव्वसंजोगे ? दव्वसंजोगे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा, सचित्ते अचित्ते, मीसए । से किं तं सचित्ते ? सचित्ते गोहिं गोमिए, महिसीहिं महिसए, उरणीहिं उरणीए, उट्टीहिं उट्टीवाले, से तं सचित्ते । से

नासिपरश्वादयः, तेषामादानपदेऽन्तर्भावात् । सहचरितत्वविवक्षायां भवन्तीति चेन्न, सहचरितत्वविवक्षायां तेषां नामपदनाम्नोऽन्तर्भावात् । क्षेत्रसंयोगपदानि[1], माथुरः वालभः दाक्षिणात्यः औदीच्य इत्यादीनि, यदि नामत्वेनाविवक्षितानि भवन्ति । कालसंयोगपदानि[2] यथा– शारदः वासन्तक इत्यादीनि । न वसन्तशरद्धेमन्तादीनि, तेषां नामपदेऽन्तर्भावात् । भावसंयोगपदानि[3]– क्रोधी मानी मायावी लोभीत्यादीनि ।

आते हैं। [illegible] क्योंकि, उनका आदानपदमें अन्तर्भाव होता है।

शंका–– सहचारीपनेकी विवक्षामें असि, परशु आदिका संयोगपदनाममें अन्तर्भाव हो जायगा ?

समाधान–– ऐसा नहीं है, क्योंकि, सहचारीपनेकी विवक्षा होने पर उनका नामपदमें अन्तर्भाव हो जाता है।

माथुर, वालभ, दाक्षिणात्य और औदीच्य इत्यादि क्षेत्रसंयोगपदनाम हैं, क्योंकि, मथुरा आदि क्षेत्रके संयोगसे माथुर आदि संज्ञाएँ व्यवहारमें आती हैं। जब माथुर आदि संज्ञाएं नामरूपसे विवक्षित न हों तभी उनका क्षेत्रसंयोगपदमें अन्तर्भाव होता है, अन्यथा नहीं।

शारद, वासन्तक इत्यादि कालसंयोगपदनाम हैं, क्योंकि, शरद् और वसन्त ऋतुके संयोगसे ये संज्ञाएं व्यवहारमें आती हैं। किंतु वसन्त, शरद्, हेमन्त इत्यादि संज्ञाओंका कालसंयोगपदनामोंमें ग्रहण नहीं होता है, क्योंकि, उनका नामपदमें अन्तर्भाव हो जाता है।

क्रोधी, मानी, मायावी और लोभी इत्यादि नाम भावसंयोगपद हैं, क्योंकि, क्रोध मान, माया और लोभ आदि भावोंके निमित्तसे ये नाम व्यवहारमें आते हैं। किंतु जिनमें

किं तं अचित्ते ? अचित्ते छत्तेण छत्ती, दंडेण दंडी, पडेण पडी, घडेण घडी, कडेण कडी से तं अचित्ते । से किं तं मीसए ? मीसए हलेणं हालिए, सगडेणं सागडिए, रहेणं रहिए, नावाए नाविए, से त्तं दव्व- संजोगे ।

अनु. १, १२९.

१. से किं तं खेत्तसंजोगे ? भारहे, एरवए, हेमए, एरण्णवए, हरिवासए, रम्मगवासए, देवकुरुए, उत्तरकुरुए, पुव्वविदेहए अपरविदेहए । अहवा मागहे, मालवए, सोरट्ठए, मरहट्ठए, कुंकुणए, से त्तं खेत्तसंजोगे । अनु. १, १३०.

२. से किं तं कालसंजोगे ? सुसमसुसमाए, सुसमाए, सुसमदुसमाए, दुसमसुसमाए, दुसमाए, दुसमदुसमाए, । अहवा पावसए, वासारत्तए, सरदए, हेमंतए, वसंतए, गिम्हए, से त्तं कालसंजोगे । अनु. १, १३१.

३. से किं तं भावसंजोगे ? दुविहे पण्णत्ते, तं जहा, पसत्थे अ अपसत्थे अ । से किं तं पसत्थे ? णाणेणं णाणी, दंसणेणं दंसणी, चरित्तेणं चरित्ती से तं पसत्थे ? से किं तं अपसत्थे ? कोहेणं कोही, माणेणं माणी, मायाए मायी, लोहेणं लोही से तं अपसत्थे, से तं भावसंजोगे । से त्तं संजोएणं । अनु. १, १३२.

न शीलसादृश्यनिबन्धनयमसिंहाग्निरावणादिनामानि[1], तेषां नामपदेऽन्तर्भावात्। न चैतेभ्यो व्यतिरिक्तं नामास्ति, अनुपलम्भात्[2]।

तत्थेदस्स जीवट्ठाणस्स णामं किं पदं ? जीवाणं ट्ठाण-वण्णणादो जीवट्ठाणमिदि गोण्णपदं। मंगलादिसु छसु अहियारेसु वक्खाणिज्जमाणेसु णामं वुत्तमेव। पुणो

स्वभावकी सदृशता कारण है ऐसी यम, सिंह, अग्नि और रावण आदि संज्ञायें भावसंयोगपदरूप नहीं हो सकती है, क्योंकि, उनका नामपदमें अन्तर्भाव होता है। उक्त दश प्रकारके नामोंसे भिन्न और कोई नामपद नहीं है, क्योंकि, व्यवहारमें इनके अतिरिक्त अन्य नाम नहीं पाये जाते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

विशेषार्थ— यतिवृषभाचार्यने कषायप्राभृतमें नामके केवल छह भेद बताये हैं। वे ये हैं, गौण्यपद, नोगौण्यपद, आदानपद, प्रतिपक्षपद, अपचयपद और उपचयपद। पूर्वमें जो नामके दश भेद कह आये हैं। उनमेंसे, यहां पर अनादिसिद्धान्तसंबन्धी गुणसापेक्ष नामोंका गौण्यपद और आदानपदमें तथा गुणनिरपेक्ष नामोंका नोगौण्यपदमें अन्तर्भाव किया है। प्राधान्यपदनामोंका गौण्यपद और आदानपदमें अन्तर्भाव किया है। प्रमाणपदनामोंका गौण्यपदमें, नामपदनामोंका नोगौण्यपदमें और संयोगपदनामोंका आदानपदमें अन्तर्भाव किया है। अवयवपदनामोंका उपचितपदनाम और अपचितपदनामोंमें अन्तर्भाव हो ही जाता है।

शंका— उन पूर्वोक्त दश प्रकारके नामपदोंमें यह जीवस्थान कौनसा नामपद है ?

समाधान— जीवोंके स्थानोंका वर्णन करनेसे 'जीवस्थान' यह गौण्य नामपद है।

शंका— पहले मंगलादिक छह अधिकारोंका व्याख्यान करते समय नामपदका

१. मु. रावणादीनि नामानि।

२. णामं छव्विहं ॥ ३ ॥ (कसायपाहुडचुण्णिसुत्त) गोण्णपदे णोगोण्णपदे आदाणपदे पडिवक्खपदे अवचयपदे उवचयपदे चेदि। × × × पाधण्णपदणामाणं कथं तब्भावो? बलाहकाए च बहुसु वण्णेसु संतेसु धवला बलाहका लोकाओ त्ति जो णामणिद्देसो सो गोण्णपदे णिवददि गुणमुहेण दव्वम्मि पउत्तिदंसणादो। कयंबणिवादिअणेगेसु रुक्खेसु तत्थ संतेसु जो एगेण रुक्खेण णिबवणमिदि णिद्देसो सो आदाणपदे णिवददि वणेणात्तरुक्खसंबंधेणेदस्स पउत्तिदंसणादो। दव्वखेत्तकालभावसंजोयपदाणि रायासिधणुहरसुरलोकणयरभारहयअइरावयसायरवासंतयकोहीमाणी इच्चाईणि णामाणि वि आदाणपदे चेव णिवदंति इदमेदस्स अत्थि एत्थ वा इदमत्थि त्ति विवक्खाए एदेसिं णामाणं पवुत्तिदंसणादो। अवयवपदणामाणि अवचयउवचयपदणामेसु पविसंति, तेहिंतो तस्स भेदाभावादो। सुअणासा कंबुग्गीवा कमलदलणयणा चंदमुही बिंबोट्ठी इच्चाईणि तत्तो बाहिराणि अत्थि त्ति चे णेदाणि णामाणि समासंतभूदइवसद्दत्थसंबंधेण दव्वम्मि पउत्तीदो। अणादियसिद्धंतपदणामेसु जाणि अणादिगुणसंबंधमवेक्खिय पयट्टाणि जीवो णाणी चेयणावंतो त्ति ताणि गोण्णपदे आदाणपदे च णिवदंति। जाणि णोगोण्णपदाणि ताणि णोगोण्णपदणामेसु णिवदंति। पमाणपदणामाणि वि गोण्णपदे चेव णिवदंति समाणस्स दव्वगुणत्तादो अरविंदसंधस्स अरविंदसण्णा णामपदा। सा च अणादियसिद्धंतपदणामेसु पविट्ठा अणादिसरूवेण तम्स तत्थ पउत्तिदंसणादो। अणादियसिद्धंतपदणामाणं धम्मकालागासजीवपुग्गलादीणं छप्पदंतब्भावो पुव्वं परूविदो त्ति णेदाणि परूविज्जदे। तदो णामं दसविहं चेव होदि त्ति एयंतग्गहो ण वत्तव्वो, किंतु छव्विहं पि होदि त्ति घेत्तव्वं। जयध. अ. पृ. ४–५.

गंथावद्दारे णामं उच्चदि त्ति ? न, पूर्वोद्दिष्टस्य नाम्नोऽन्त्रेन पदान्वेषणात् ।

पमाणं पंचविहं दव्व-खेत्त-काल-भाव-णय-प्पमाण-भेदेहि । तत्थ दव्व-पमाणं संखेज्जमसंखेज्जमणंतयं चेदि । खेत्त-पमाणं एय-पदेसादि । काल-पमाणं समयावलियादि । भाव-पमाणं पंचविहं, आभिणिबोहियणाणं सुदणाणं ओहिणाणं मणपज्जवणाणं केवलणाणं चेदि । णय-प्पमाणं सत्तविहं, णेगम-संगह-ववहारुज्जुसुद-सद्द-समभिरूढ-एवंभूद-भेदेहि । अहवा णय-प्पमाणमणेयविहं—

जावदिया वयण-वहा तावदिया चेव होंति णय-वादा ।
जावदिया णय-वादा तावदिया चेव होंति पर-समया[1] ।।६७।। ।।इदि वयणादो।।

कथं नयानां प्रामाण्यं ? न, प्रमाणकार्याणां नयानामुपचारतः प्रामाण्याविरोधात् । एत्थ इदं जीवट्ठाणं एदेसु पंचसु पमाणेसु कदमं पमाणं ? भावपमाणं । तं पि पंचविहं तत्थ पंचविहेसु भाव-पमाणेसु सुद-भाव-पमाणं । कर्तृनिरूपणया

व्याख्यान कर ही आये हैं, फिर यहां पर ग्रन्थके प्रारम्भमें नामपदका व्याख्यान किसलिये किया गया है ?

समाधान— ऐसा नहीं, क्योंकि, पूर्वमें कहे गये नामका दशप्रकारके नामपदोंमेंसे किसमें अन्तर्भाव होता है इसका इस कथनके द्वारा ही अन्वेषण किया है ।

द्रव्यप्रमाण, क्षेत्रप्रमाण, कालप्रमाण, भावप्रमाण और नयप्रमाणके भेदसे प्रमाणके पांच भेद हैं । उनमें संख्यात, असंख्यात और अनंत यह द्रव्यप्रमाण है । एक प्रदेश आदि क्षेत्रप्रमाण है । एक समय, एक आवली आदि कालप्रमाण है । आभिनिबोधिक (मति) ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानके भेदसे भावप्रमाण पांच प्रकारका है । नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूतनयके भेदसे नयप्रमाण सात प्रकारका है । अथवा नयप्रमाण आगे कहे गये वचनके अनुसार अनेक प्रकारका समझना चाहिये ।

जितने भी वचन-मार्ग है, उतने ही नयवाद, अर्थात् नयके भेद हैं । और जितने नयवाद हैं, उतने ही परसमय हैं ॥ ६७ ॥

शंका— नयोंमें प्रमाणता कैसे संभव है, अर्थात् उनमें प्रमाणता कैसे आ सकती है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, नय प्रमाणके कार्य हैं, इसलिये उपचारसे नयोंमें प्रमाणताके मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

विशेषार्थ— शंकाकारका अभिप्राय यह है कि जब नय वस्तुके एक अंशमात्रको ग्रहण करता है सर्वांशरूपसे वस्तुको नहीं जानता है तब उसे प्रमाण कैसे माना जाय । इसका समाधान यह है कि प्रमाण द्वारा परिगृहीत वस्तुमें ही नयकी प्रवृत्ति होती है, इसलिये प्रमाणका कार्य होनेसे उपचारसे उनमें प्रमाणता आ जाती है ।

१. मु. चेव परसमया । गो. क. ८९४, स. त. १, ४७.

एवास्य प्रामाण्यं निरूपितमिति पुनरस्य प्रामाण्यनिरूपणमनर्थकमिति चेन्न, सामान्येन जिनोक्तत्वान्यथानुपपत्तितोऽवगतजीवस्थानप्रामाण्यस्य शिष्यस्य बहुषु भावप्रमाणेष्विदं जीवस्थानं श्रुतभावप्रमाणमिति ज्ञापनार्थत्वात् । अहवा पमाणं छव्विहं नामस्थापना-द्रव्यक्षेत्रकालभावप्रमाणभेदात् । तत्थ णाम-पमाणं पमाण-सण्णा । ट्ठवणा-पमाणं दुविहं, सब्भाव-ट्ठवणा-पमाणं असब्भाव-ट्ठवणा-पमाणमिदि । आकृतिमति सद्भाव-स्थापना । अनाकृतिमत्यसद्भावस्थापना । दव्वपमाणं दुविहं आगमदो णोआगमदो य । आगमदो पमाण-पाहुड-जाणओ अणुवजुत्तो, संखेज्जासंखेज्जाणंत-भेद-भिण्ण-सद्दागमो वा । णोआगमो तिविहो, जाणय[1]-सरीरं भवियं तव्वदिरित्तमिदि । जाणय-सरीरं [2]भवियं च गयं । तव्वदिरित्त-दव्व-पमाणं तिविहं, संखेज्जमसंखेज्जमणंतमिदि ।

शंका— उन पांच प्रकारके प्रमाणोंमेंसे 'जीवस्थान' यह कौनसा प्रमाण है ?

समाधान— यह भावप्रमाण है ।

मतिज्ञानादिरूपसे भावप्रमाणके भी पांच भेद हैं । इसलिये उन पांच प्रकारके भाव-प्रमाणोंमेंसे इस जीवस्थान शास्त्रको श्रुतभावप्रमाणरूप जानना चाहिये ।

शंका— पहले कर्ताका निरूपण कर आये है, इसलिये उसके निरूपण कर देनेसे ही इस शास्त्रकी प्रमाणताका निरूपण हो जाता है, अतः फिरसे उसकी प्रमाणताका निरूपण करना निरर्थक है ?

समाधान— ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि, यह जीवस्थान शास्त्र प्रमाण है, अन्यथा वह जिनेन्द्रदेवका कहा हुआ नहीं हो सकता था । इस प्रकार सामान्यरूपसे इस जीवस्थान शास्त्रकी प्रमाणताका निश्चय करनेवाले शिष्यको बहुत प्रकारके भाव प्रमाणोंमेंसे यह जीवस्थान शास्त्र श्रुतभावप्रमाणरूप है, इसतरह विशेष ज्ञान करानेके लिये यहां पर इसकी प्रमाणताका निरूपण किया है ।

अथवा, नामप्रमाण, स्थापनाप्रमाण, द्रव्यप्रमाण, क्षेत्रप्रमाण, कालप्रमाण और भाव-प्रमाणके भेदसे प्रमाण छह प्रकारका है ।

उनमें 'प्रमाण' ऐसी संज्ञाको नामप्रमाण कहते हैं । सद्भावस्थापनाप्रमाण और असद्भावस्थापनाप्रमाणके भेदसे स्थापनाप्रमाण दो प्रकारका है । तदाकारवाले पदार्थोंमें सद्भाव-स्थापना होती है और अतदाकारवाले पदार्थोंमें असद्भावस्थापना होती है । आगमद्रव्यप्रमाण और नोआगमद्रव्यप्रमाणके भेदसे द्रव्यप्रमाण दो प्रकारका है । प्रमाणविषयक शास्त्रको जाननेवाले परंतु वर्तमानमें उसके उपयोगसे रहित जीवको आगमद्रव्यप्रमाण कहते हैं । अथवा, शब्दोंकी अपेक्षा संख्यातभेदरूप वक्ताओंकी अपेक्षा असंख्यातभेदरूप और तद्वाच्य अर्थकी अपेक्षा अनंत-भेदरूप ऐसे शब्दरूप आगमको आगमद्रव्यप्रमाण कहते हैं । ज्ञायकशरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्तके भेदसे नोआगमद्रव्यके तीन भेद समझने चाहिये ।

१. मु. जाणुग । २. मु.– सरीरं च भवियं ।

खेत्त-काल-पमाणाणि पुव्वं व वत्तव्वाणि। भाव-पमाणं पंचविहं–मदि-भाव-पमाणं सुद-भाव-पमाणं ओहि-भाव-पमाणं मणपज्जव-भाव-पमाणं केवलभाव-पमाणं चेदि। एत्थेदं जीवट्ठाणं भावदो सुद-भाव-पमाणं। दव्वदो संखेज्जासंखेज्जाणंतसरूव-सद्द-पमाणं।

वत्तव्वदा तिविहा–ससमयवत्तव्वदा परसमयवत्तव्वदा तदुभयवत्तव्वदा चेदि। जम्हि सत्थम्हि स-समयो चेव वण्णिज्जदि परूविज्जदि पण्णाविज्जदि तं सत्थं ससमयवत्तव्वं, तस्स भावो ससमयवत्तव्वदा। पर-समयो मिच्छत्तं जम्हि पाहुडे अणियोगे वा वण्णिज्जदि परूविज्जदि पण्णाविज्जदि तं पाहुडमणियोगो वा परसमय-वत्तव्वं, तस्स भावो परसमयवत्तव्वदा णाम। जत्थ दो वि परूवेऊण पर-समयो दूसिज्जदि स-समयो थाविज्जदि सा तदुभयवत्तव्वदा णाम भवदि। एत्थ पुण जीवट्ठाणे ससमयवत्तव्वदा, ससमयस्सेव परूवणादो। अत्थाधियारो तिविहो–पमाणं पमेयं तदुभयं चेदि। एत्थ जीवट्ठाणे एक्को चेय अत्थाहियारो, पमेय-परूवणादो। उवक्कमो गदो।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

उनमें, ज्ञायकशरीर और भावि नोआगमद्रव्यका वर्णन पहले कर आये हैं। तद्व्यतिरिक्त-नोआगमद्रव्यप्रमाण संख्यातरूप, असंख्यातरूप और अनन्तरूप भेदकी अपेक्षा तीन प्रकारका है। क्षेत्रप्रमाण और कालप्रमाणका वर्णन पहलेके समान ही करना चाहिये। मतिभाव-प्रमाण, श्रुतभावप्रमाण, अवधिभावप्रमाण, मनःपर्ययभावप्रमाण और केवलभावप्रमाणके भेदसे भावप्रमाण पांच प्रकारका है। इनमेंसे यह 'जीवस्थान' नामका शास्त्र भावप्रमाणकी अपेक्षा श्रुतभावप्रमाणरूप है, और द्रव्यकी अपेक्षा संख्यात असंख्यात और अनन्तरूप शब्दप्रमाण है।

वक्तव्यता तीन प्रकारकी है– स्वसमयवक्तव्यता, परसमयवक्तव्यता और तदुभय-वक्तव्यता। जिस शास्त्रमें स्वसमयका ही वर्णन किया जाता है, प्ररूपण किया जाता है अथवा विशेषरूपसे ज्ञान कराया जाता है उसे स्वसमयवक्तव्य कहते हैं– और उसके भावको अर्थात् उसमें रहनेवाली विशेषताको स्वसमयवक्तव्यता कहते हैं। परसमय मिथ्यात्वको कहते हैं। उसका जिस प्राभृत या अनुयोगमें वर्णन किया जाता है, प्ररूपण किया जाता है या विशेष ज्ञान कराया जाता है उस प्राभृत या अनुयोगको परसमयवक्तव्य कहते हैं– और उसके भावको अर्थात् उसमें होनेवाली विशेषताको परसमयवक्तव्यता कहते हैं। जहांपर स्वसमय और पर-समय इन दोनोंका निरूपण करके परसमयको दोषयुक्त दिखलाया जाता है और स्वसमयकी स्थापना की जाती है उसे तदुभयवक्तव्य कहते हैं और उसके भावको अर्थात् उसमें रहनेवाली विशेषताको तदुभयवक्तव्यता कहते हैं। इनमेंसे इस जीवस्थान शास्त्रमें स्वसमयवक्तव्यता समझनी चाहिये, क्योंकि, इसमें स्वसमयका ही निरूपण किया गया है।

प्रमाण, प्रमेय और तदुभयके भेदसे अर्थाधिकारके तीन भेद हैं। उनमेंसे इस जीवस्थान शास्त्रमें एक प्रमेय-अर्थाधिकारका ही वर्णन है, क्योंकि, इसमें प्रमाणके विषयभूत प्रमेयका ही वर्णन किया गया है। इसतरह उपक्रमनामका प्रकारण समाप्त हुआ।

णिक्खेवो चउव्विहो णाम-ट्ठवणा-दव्व-भाव-जीवट्ठाण-भेएण । णाम-जीवट्ठाणं जीवट्ठाण-सद्दो । ट्ठवण-जीवट्ठाणं बुद्धीए समारोविय-जीवट्ठाण-दव्वं । दव्व-जीवट्ठाणं दुविहं आगम-णोआगम-भेएण । तत्थ जीवट्ठाण-जाणओ अणुवजुत्तो आगम-दव्व-जीवट्ठाणं । णोआगम-दव्व-जीवट्ठाणं तिविहं जाणगसरीर-भविय-तव्वदिरित्त-णोआगम-दव्व-जीवट्ठाण-भएण । आदिल्ल-दुगं सुगमं । तव्वदिरित्तं जीवट्ठाणाहार-भूदागास-दव्वं । भाव-जीवट्ठाणं दुविहं आगम-णोआगम-भेएण । आगम-भाव-जीवट्ठाणं जीवट्ठाण-जाणओ उवजुत्तो । णोआगम-भाव-जीवट्ठाणं मिच्छाइट्ठियादि-चोद्दस-जीव-समासा । एत्थ णोआगम-भाव-जीवट्ठाणं पयदं । णिक्खेवो गदो ।

नयैर्विना लोकव्यवहारानुपपत्तेर्नया उच्यन्ते । तद्यथा–प्रमाणपरिगृहीतार्थैक-देशे वस्त्वध्यवसायो[1] नयः । स द्विविधः, द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्चेति[2] । '[3]द्रवति द्रोष्यत्यदुद्रुवत्तांस्तान्पर्यायानिति द्रव्यम्[4], द्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः ।

नामजीवस्थान, स्थापनाजीवस्थान, द्रव्यजीवस्थान और भावजीवस्थानके भेदसे निक्षेप चार प्रकारका है । 'जीवस्थान' इस प्रकारकी संज्ञाको नामजीवस्थान कहते हैं । जिस द्रव्यमें बुद्धिसे जीवस्थानकी आरोपणा की हो उसे स्थापनाजीवस्थान कहते हैं । आगम और नोआगमके भेदसे द्रव्यजीवस्थान दो प्रकारका है । उनमें, जीवस्थान शास्त्रके जाननेवाले किन्तु वर्तमानमें उसके उपयोगसे रहित जीवको आगमद्रव्यजीवस्थान कहते हैं । ज्ञायकशरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्तके भेदसे नोआगमद्रव्यजीवस्थान तीन प्रकारका है । इनमेंसे, आदिके दो अर्थात् ज्ञायकशरीर और भावि सुगम हैं । जीवस्थानोंके अथवा जीवस्थान शास्त्रके आधारभूत आकाश-द्रव्यको तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यजीवस्थान कहते हैं । आगम और नोआगमके भेदसे भाव-जीवस्थान दो प्रकारका है । जीवस्थान शास्त्रके जाननेवाले और वर्तमानमें उसके उपयोगसे युक्त जीवको आगमभावजीवस्थान कहते हैं । और मिथ्यादृष्टि आदि चौदह जीवसमासोंको नोआगमभावजीवस्थान कहते । इनमेंसे, इस जीवस्थान शास्त्रमें नोआगमभावजीवस्थान निक्षेप प्रकृत है । इस तरह निक्षेपका वर्णन हुआ ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

नयोंके विना लोकव्यवहार नहीं चल सकता है, इसलिये यहां पर नयोंका वर्णन करते हैं । उन नयोंका खुलासा इस प्रकार है– प्रमाणके द्वारा ग्रहण की गई वस्तुके एक अंशमें वस्तुका निश्चय करनेवाले ज्ञानको नय कहते हैं । वह नय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके भेदसे दो

---

१. अनिराकृतप्रतिपक्षो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो नयः । प्र. क. मा. पृ. २०५.

२. द्रव्यं सामान्यमभेदोऽन्वय उत्सर्गोऽर्थो विषयो येषां ते द्रव्यार्थिकाः । पर्यायो विशेषो भेदो व्यतिरेकोऽपवादोऽर्थो विषयो येषां ते पर्यायार्थिकाः । लघीय. पृ. ५१.

३. मु. श्चेति । द्रोष्यत्यदु ।

४. द्रवति गच्छति तांस्तान् पर्यायान् द्रूयते गम्यते तैस्तैः पर्यायैरिति वा द्रव्यम् । जयध. अ. पृ. २६. निजनिजप्रदेशसमूहैरखण्डवृत्त्या स्वभावविभावपर्यायान् द्रवति द्रोष्यत्यदुद्रुवच्चेति द्रव्यम् । अ. प. ८७.

परि भेदमेति गच्छतीति पर्यायः, पर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिकः। तत्र द्रव्यार्थिकस्त्रिविधः—नैगमः संग्रहो व्यवहारश्चेति। विधिव्यतिरिक्त-प्रतिषेधानुपलम्भाद्विधिमात्रमेव तत्त्वमित्यध्यवसायः समस्तस्य ग्रहणात्संग्रहः। द्रव्यव्यतिरिक्त-पर्यायानुपलम्भाद् द्रव्यमेव तत्त्वमित्यध्यवसायः वा संग्रह[1]ः। संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं भेदनं व्यवहारः[2], व्यवहारपरतन्त्रो व्यवहारनय इत्यर्थः। यदस्ति न तद् द्वयमतिलङ्घ्य वर्तत इति नैकगमो नैगमः, संग्रहासंग्रहस्वरूपद्रव्यार्थिको नैगम[3] इति यावत्। एते त्रयोऽपि नयाः नित्यवादिनः, स्वविषये पर्यायाभावतः सामान्यविशेष-कालयोरभावात्।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

प्रकारका है। जो उन उन पर्यायोंको प्राप्त होता है, प्राप्त होगा और प्राप्त हुआ था उसे द्रव्य कहते हैं। द्रव्य ही जिसका अर्थ अर्थात् प्रयोजन हो उसे द्रव्यार्थिकनय कहते हैं। 'परि' अर्थात् भेदको जो प्राप्त होता है उसे पर्याय कहते हैं। वह पर्याय ही जिस नयका प्रयोजन हो उसे पर्यायार्थिकनय कहते हैं।

द्रव्यार्थिक नयके तीन भेद हैं—नैगमनय, संग्रहनय और व्यवहारनय। विधि अर्थात् सत्ताको छोड़कर प्रतिषेध असत्ता भिन्न उपलब्ध नहीं होती है, इसलिये विधिमात्र ही तत्व है। इस प्रकारके निश्चय करनेवाले नयको समस्तका ग्रहण करनेवाला होनेसे संग्रहनय कहते हैं। अथवा, द्रव्यको छोड़कर पर्यायें नहीं पाई जाती हैं, इसलिये द्रव्य ही तत्त्व है। इसप्रकारके निश्चय करनेवाले नयको संग्रहनय कहते हैं। संग्रहनयसे ग्रहण किये गये पदार्थोंके विधिपूर्वक अवहरण करनेको अर्थात् भेद करनेको व्यवहार कहते हैं। उस व्यवहारके आधीन चलनेवाले नयको व्यवहारनय कहते हैं। जो है वह उक्त दोनों अर्थात् संग्रह और व्यवहारको छोड़कर नहीं रहता है। इसतरह जो केवल एकको ही प्राप्त नहीं है, अर्थात् अनेकको प्राप्त होता है उसे नैगमनय कहते हैं। अर्थात् संग्रह और असंग्रहरूप जो द्रव्यार्थिक नय है वह ही नैगमनय है। ये तीनों ही नय नित्यवादी हैं, क्योंकि, इन तीनों ही नयोंका विषय पर्याय न होनेके कारण इन

१. सद्रूपतानतिक्रान्तस्वस्वभावमिदं जगत्। सत्तारूपतया सर्वं संगृह्णन् संग्रहो मतः॥ स. त. टी. पृ. ३११. स्वजात्यविरोधेनैकत्वमुपनीय पर्यायानाक्रान्तभेदानविशेषेण समस्तग्रहणात्संग्रहः। स. सि. १,३३. स्वजात्यविरोधेनैकत्वोपनयात्समस्तग्रहणं संग्रहः। त. रा. वा. १, ३३. एकत्वेन विशेषाणां ग्रहणं संग्रहो मतः। सजातेरविरोधेन दृष्टेष्टाभ्यां कथंचन॥ त. श्लो. वा. १, ३३, ४९.

२. स. सि. १, ३३. त. रा. वा. १, ३३. प्र. क. मा. पृ. २०५. संग्रहेण गृहीतानामर्थानां विधिपूर्वकः। योऽवहारो विभागः स्याद्व्यवहारो नयः स्मृतः॥ त. श्लो. वा. १, ३३, ५८. व्यवहारस्तु तामेव प्रतिवस्तु व्यवस्थिताम्। तथैव दृश्यमानत्वाद व्यवहारयति देहिनः॥ स. त. टी. पृ. ३११

३. अनभिनिवृत्तार्थसङ्कल्पमात्रग्राही नैगमः। स. सि. १, ३३. अर्थसङ्कल्पमात्रग्राही नैगमः। त. रा. वा. १, ३३. तत्र सङ्कल्पमात्रस्य ग्राहको नैगमो नयः। त. श्लो. वा. १, ३३. अनिष्पन्नार्थसङ्कल्पमात्रग्राही नैगमः। प्र. क. मा. पृ. २०५. अन्यदेव हि सामान्यमभिन्नज्ञानकारणम्। विशेषोऽप्यन्य एवेति मन्यते निगमो नयः॥ स. त. टी. पृ. ३११. नैकैर्मानैर्महासत्तासामान्यविशेषविशेषज्ञानैर्मिमीते मिनोति वा नैकमः। निगमेषु

पर्यायार्थिको द्विविधः– अर्थनयो व्यञ्जननयश्चेति । द्रव्यपर्यायार्थिकनययोः[1] किंकृतो भेदश्चेदुच्यते ऋजुसूत्रवचनविच्छेदो मूलाधारो येषां नयानां ते पर्यायार्थिकाः। विच्छिद्यतेऽस्मिन् काल इति विच्छेदः। ऋजुसूत्रवचनं नाम वर्तमानवचनम्, तस्य विच्छेदः ऋजुसूत्रवचनविच्छेदः। स कालो मूल आधारो येषां नयानां ते पर्यायार्थिकाः। ऋजुसूत्रवचनविच्छेदादारभ्य आ एकसमयाद्वस्तुस्थित्यध्यवसायिनः पर्यायार्थिका इति

तीनों नयके विषयमें सामान्य और विशेषकालका अभाव है।

विशेषार्थ— एवंभूतनयसे लेकर विलोमक्रमसे ऋजुसूत्र नय तक पूर्व पूर्व नय सामान्य रूपसे और उत्तरोत्तर नय विशेषरूपसे वर्तमान कालवर्ती पर्यायको विषय करते हैं। इस प्रकार सामान्य और विशेष दोनों ही काल द्रव्यार्थिक नयके विषय नहीं होते हैं। इस विवक्षासे द्रव्यार्थिक नयके तीनों भेदोंको नित्य माना है, अथवा द्रव्यार्थिक नयमें कालभेदकी विवक्षा ही नहीं है, इसलिये उसमें सामान्य और विशेषकालका अभाव कहा है।

अर्थनय और व्यंजन (शब्द) नयके भेदसे पर्यायार्थिक नय दो प्रकारका है।

शंका— द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनयमें भेद किस कारणसे है ?

समाधान— ऋजुसूत्र वचनोंका विच्छेद जिस कालमें होता है, वह (काल) जिन नयोंका मूल आधार है वे पर्यायार्थिकनय हैं। विच्छेद अथवा अन्त जिस कालमें होता है उस कालको विच्छेद कहते हैं। वर्तमानवचनको ऋजुसूत्रवचन कहते हैं और उसके विच्छेदको ऋजुसूत्रवचनविच्छेद कहते हैं। वह ऋजुसूत्रके प्रतिपादक वचनोंका विच्छेदरूप काल जिन नयोंका मूल आधार है उन्हें पर्यायार्थिकनय कहते हैं। अर्थात् ऋजुसूत्रके प्रतिपादक वचनोंके विच्छेदरूप कालसे लेकर एक समय पर्यन्त वस्तुकी स्थितिका निश्चय करनेवाले पर्यायार्थिकनय हैं यह उक्त कथनका तात्पर्य है। इन पर्यायार्थिक नयोंके अतिरिक्त शेष शुद्धाशुद्धरूप द्रव्यार्थिक नय हैं।

वा अर्थबोधेषु कुशलो भवो वा नैगमः। अथवा नैके गमाः पन्थानो यस्य स नैकगमः। तत्रायं सर्वत्र सदित्येवमनुगताकारावबोधहेतुभूतां महासत्तामिच्छति अनुवृत्तव्यावृत्तावबोधहेतुभूतं च सामान्यविशेषं द्रव्यत्वादि व्यावृत्तावबोधहेतुभूतं च नित्यद्रव्यवृत्तिमन्त्यं विशेषमिति। स्या. सू. पृ. ३७१. सिद्धसेनीयाः पुनः षडेव नयानभ्युपगतवन्तः, नैगमस्य संग्रहव्यवहारयोरन्तर्भावविवक्षणात् । तथाहि यदा, नैगमः सामान्यप्रतिपत्तिपरस्तदा स संग्रहेऽन्तर्भवति सामान्याभ्युपगमपरत्वात् विशेषाभ्युपगमनिष्ठस्तु व्यवहारे। आ. सू. पृ. ७.

१. मु. द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकयोः।

२. द्रव्यमर्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः तद्भवलक्षणसामान्येनाभिन्नसादृश्यलक्षणसामान्येन भिन्नमभिन्नं च वस्त्वभ्युपगच्छन् द्रव्यार्थिक इति यावत्। परि भेदं ऋजुसूत्रवचनविच्छेदं एति गच्छतीति पर्यायः। स पर्यायः अर्थः प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिकः सादृश्यलक्षणसामान्येन भिन्नमभिन्नं च द्रव्यार्थिकाशेषविषयं ऋजुसूत्रवचनविच्छेदेन पाठयन् पर्यायार्थिक इत्यवगन्तव्यः। जयध. अ. पृ. २७.